विक्रमार्क

THE VIKRAMARK

शोध पत्रिका

Research Journal

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

विक्रमादित्य, उनके युग और भारत विद्या पर केंद्रित बहुविध पुस्तकमाला

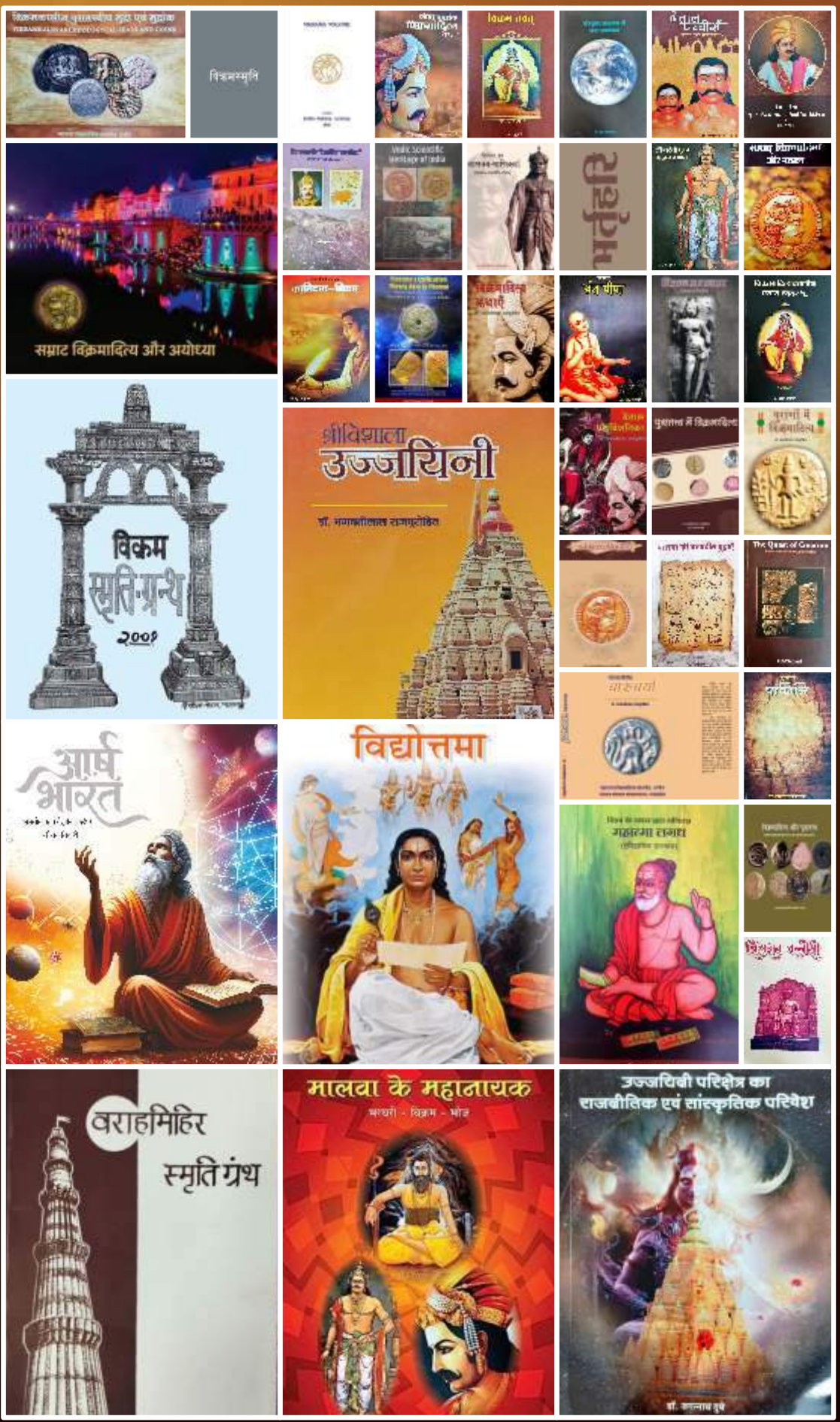

विक्रमार्क

THE VIKRAMARK

शोध पत्रिका
Research Journal

मार्च–अगस्त 2024, अंक–8
चैत्र–भाद्रपद (विक्रम सम्वत् 2081)

संपादक
श्रीराम तिवारी

सह–संपादक
राजेश्वर त्रिवेदी

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
स्वराज संस्थान संचालनालय
संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन

विक्रमार्क
THE VIKRAMARK

शोध पत्रिका
Research Journal

नियामक : **डॉ. मोहन यादव,** मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश
श्री धर्मेन्द्र सिंह लोधी, राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार)
संस्कृति, पर्यटन, धार्मिक न्यास और धर्मस्व, मध्यप्रदेश
शिवशेखर शुक्ला, प्रमुख सचिव, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन

वर्ष : मार्च–अगस्त 2024, अंक–8
चैत्र–भाद्रपद (विक्रम सम्वत् 2081)

सम्पादक : **श्रीराम तिवारी**

सह–सम्पादक : **राजेश्वर त्रिवेदी**

समन्वय सहयोग : **रितेश वर्मा, राजकुमार सिंह, खुमेन्द्र कावड़े**

मूल्य : 40/–

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन का अधिष्ठान है। शोधपीठ विक्रमादित्य, उनके युग तथा भारत विद्या पर गंभीर शोध, अनुसंधान, फैलोशिप और अध्ययन के लिए समर्पित है।

इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखक के अपने हैं, जिनका यथासंभव तथ्यात्मक सत्यापन किया गया है, इस सम्बन्ध में प्रकाशक किसी भी रूप में उत्तरदायी नहीं है।

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
स्वराज संस्थान संचालनालय, मध्यप्रदेश शासन
बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन – 465010
दूरभाष : 0734 2521499
E mail : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com
ISSN : 2348-7720
मुद्रण : अंकन इंटरप्राइजेज, भोपाल

संपादकीय

भारत की समृद्ध प्राचीन परंपराएँ विविधता, ज्ञान और संस्कृति का भंडार हैं। ये परंपराएँ सहस्राब्दियों से चली आ रही हैं और आज भी भारतीय समाज का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। इनमें धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मान्यताओं के साथ–साथ आचार–विचार, रीति–रिवाज और जीवनशैली शामिल हैं। भारत की ये प्राचीन परंपराएँ केवल सांस्कृतिक धरोहर ही नहीं हैं, बल्कि वे आधुनिक जीवन में भी मार्गदर्शन प्रदान करती हैं। ये परंपराएँ हमारे अतीत की याद दिलाती हैं और हमें एक समृद्ध और गौरवशाली भविष्य की ओर अग्रसर करती हैं। विक्रमादित्य भारतवर्ष के सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय सम्राट हैं। भारतवर्ष के महाकाव्य में रामायण और महाभारत के महान् नायकों में श्रीराम और श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कोई भी दूसरा व्यक्ति विक्रमादित्य के समान जनसाधारण में समादृत और स्मृत नहीं है। विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध उनके द्वारा राष्ट्र की स्वाधीनता की रक्षा, उनके सैनिक एवं राजनीतिक उपलब्धियाँ, उनके आदर्श शासन, उनके न्याय–विवेक तथा साहित्य आदि के प्रश्रय में उनकी उदार हृदयता ने उनके नाम को अमर बनाकर देश के जनमानस में प्रतिष्ठित किया है।

सम्राट् विक्रमादित्य ने अपने शासनकाल में एक ऐसी समृद्ध संस्कृति और ज्ञान परंपरा की नींव रखी, जिसने भारतीय सभ्यता को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया। उनका शासनकाल न केवल एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना का प्रतीक है, बल्कि भारतीय ज्ञान–विज्ञान और कला के क्षेत्र में एक स्वर्णिम युग की तरह प्रतिष्ठित है। विक्रमादित्यकाल में उत्तर पश्चिम तथा उत्तर पूर्व के छोरों पर कई दर्रे थे और कई नदियाँ थी। नदियों के कारण आवागमन सुगम था। इन्हीं मार्गों से अनेक विदेशी जातियों का आवागमन हुआ। ऐतिहासिक काल में ईरानी, यूनानी, शक, पहलव, कुषाण, हुण, तुर्क जातियाँ आयीं, जिन्होंने भारतीय परम्परा को आत्मसात् किया तथा भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में रच–बस गये। विक्रमादित्यकालीन भौगोलिक स्थिति की विशेषताओं के कारण भारत वर्ष के विकास में एकरूपता, एक रसता दिखाई देती थी। इस काल का व्यापार–व्यवसाय उज्जयिनी से प्रारंभ होकर प्राचीन बंदरगाह भृगुकच्छ से अरब सागर होता हुआ सुदूर देशों तक फैला हुआ था।

विक्रमादित्य के काल की एक संस्कृति थी जिसके मूल में भौगोलिक राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक कला संबंधी एकता का सूत्र गूंथा हुआ था। जिस प्रकार विक्रमादित्य के काल का व्यापार, व्यवसाय इतिहास की दृष्टि से दिखाई देता है उसी प्रकार उसका विस्तृत विस्तार अपनी भौगोलिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सीमाएँ पृथ्वी के नाभि स्थल उज्जयिनी से प्रारंभ होती है। यह स्थल कर्क रेखा पर स्थित होकर 23.5 डिग्री अक्षांश पर अवस्थित है? यहाँ पर प्राचीनकाल से ही कालों के काल महाकाल का वास है। इस कारण कालगणना का भी यह प्रमुख केन्द्र है। विक्रमादित्य के सभासद वराहमिहिर उज्जयिनी से ही कालगणना करते थे। उज्जयिनी परिक्षेत्र से प्राप्त मुद्राएँ उसकी भौगोलिक परिस्थितियों को स्पष्ट करती है, वहीं नर्मदा नदी का तटवर्ती क्षेत्र में अवस्थित भीमबेटका में विक्रमादित्य के चक्रवर्ती होने के प्रमाण प्राप्त हुए है। सरस्वती नदी और भागीरथी के तट पर

विक्रमादित्य की अध्यात्मिक चेतना के प्रमाण प्राप्त होते है। हरिद्वार में गंगा के तट पर हरकी पेडी नामक स्थल पर घाट निर्माण के अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होते है। यमुना के तट हस्तिनापुर परिक्षेत्र में कालगणना की दृष्टि से उत्तुंग शंख वाले शिखर का निर्माण कालगणना आचार्य वराहमिहिर द्वारा किया गया (जिसके प्रमाण वर्तमान में दिल्ली का कुतुबमीनार)। पश्चिम के दूरस्थ खाड़ी क्षेत्रों तक विक्रमादित्य के काल की भगवा पताकाएँ लहराती हुई दिखाई देती है। लिपिकार लक्ष्मण श्रीधर वाकणकर (पदमश्री विष्णुश्रीधर वाकणकर के अग्रज) ने अफगानिस्तान के मीनार–ए–जाम स्थल पर कालगणक यंत्र आचार्य वराहमिहिर द्वारा निर्मित देखा था।

इस प्रकार अखण्ड भारत में विक्रमादित्य शासन करते रहे और अपनी सीमाओं को विस्तृत करते रहे। दक्षिण से उत्तर और पूरब से पश्चिम चारों दिशाओं में विक्रमादित्य की निरन्तरता इतिहास के पन्नों को स्वर्णिम अक्षरों से अंकित करती है। पुराण में ज्ञान को अप्रतिम माना गया है। भारत के तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, वल्लभी, उज्जयिनी, काशी आदि विश्व प्रसिद्ध शिक्षा एवं शोध के प्रमुख केन्द्र रहे तथा यहाँ कई देशों के शिक्षार्थी ज्ञानार्जन के लिए आते रहे। भारतीय इतिहास में उज्जयिनी के महान् प्रतापी अक्षुण्ण कीर्तिशाली सम्राट् विक्रमादित्य का स्थान अद्वितीय है। उनके द्वारा चलाये गये विक्रम नामक सम्वत्सर शताब्दियों से सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त एवं मान्य है। विक्रमादित्य की कथाएँ भारत के कोने–कोने के जन–मानस में कथा–कहानियों के माध्यम से आज भी प्रसिद्ध हैं। विक्रमादित्य भारतवर्ष के सांस्कृतिक विकास, शौर्य और वैभव के प्रतीक हैं। वे अपने औदार्य, विद्वत्ता, साहित्य–सेवा, अलौकिक प्रतिभा एवं दिग्विजय के कारण सर्वश्रुत थे। वे प्रत्येक बात में इतने अद्वितीय थे कि उनकी उपमा संभवतः किसी को नहीं दी जा सकती। उनकी शालीनता, मनुष्यता, वाग्मिता, बुद्धिमत्ता विविध और विभिन्न अनन्त वैचित्र्य के गीत आज भी घर–घर सुनने को मिलते हैं।

सारांश यह है कि वे माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों ही प्रकार की गुण–राशि के अप्रतिम उदाहरण थे। महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ की शोध पत्रिका **विक्रमार्क** सम्राट् विक्रमादित्य, उनके युग,नवजागरण, भारत उत्कर्ष, भारत की प्राच्य विद्या, विज्ञान, परंपरा व संस्कृति को केंद्र में रखकर अतीत व वर्तमान के मध्य एक सेतु का कार्य कर रही है। विक्रमार्क का प्रस्तुत अंक अपने में अनेक विषयों को समाहित किए हुए है। इनमें भारत की अनेक प्राचीन परंपराएँ, प्राचीन वांग्मय, संस्कृत साहित्य स्थापत्य और प्राचीन अभिलेख तथा नाट्य व रंगमंच परंपरा पर केंद्रित लेख शामिल है। सभी सुधी पाठकों, शोधार्थियों के समझ यह अंक प्रस्तुत है।

श्रीराम तिवारी
निदेशक, महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

अनुक्रम

सार्वभौम नगरी उज्जयिनी की मंच परंपरा /01
डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित
पौराणिक वांग्मय में शिव /06
शशिप्रभा तिवारी
अनुश्रुतियों में भर्तृहरि एवं विक्रमादित्य /15
डॉ. धीरेन्द्र सोलंकी
अनिमेष नागर
भारतीय विज्ञान परंपरा से विकास /२१
डॉ. रवि प्रकाश आर्य
वैदिककालीन भारत की वस्त्र परंपरा /२8
जयप्रकाश परिहार
प्राचीन भारत का गुफा स्थापत्य /36
रितु मिश्र
प्राचीन भारत के प्रमुख सामुद्रिक व्यापारिक मार्ग /44
डॉ. सुमित मेहता
विक्रमादित्य का कालनिर्णय /49
डॉ. सर्वेश्वर शर्मा
अखण्ड भारत के चक्रवर्ती सम्राट विक्रमादित्य /53
डॉ. रमण सोलंकी
कालिदास के साहित्य में सांस्कृतिक भारत /57
विजय कुमार परिहार
सौन्दर्य एवं कला के महाग्रन्थ /63
संजय कुमार पाण्डेय
भारत के प्राच्य अभिलेख /69
कौशल कुमार त्रिपाठी
प्राग इतिहास की साक्ष्य सामग्री /76
ईशान अवस्थी

सार्वभौम नगरी उज्जयिनी की मंच परंपरा

• डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

सार्वभौम नगरी उज्जयिनी की सांस्कृतिक परम्परा पर्याप्त समृद्ध रही है। उसने कई सुप्रसिद्ध कवियों तथा नाटककारों को आकृष्ट किया है। महाकवि कालिदास को इस भूमि से सम्बद्ध माना जाता है, परंतु उनके किसी नाटक का यह वस्तु क्षेत्र नहीं रहा। हाँ, शाकुंतल के कुछ संस्करण अवश्य यह संकेत करते हैं कि उज्जैन के विक्रमादित्य की सभा में उसका सफल मंचन हुआ था। प्रयोग प्रधान होने से विद्वानों की दर्शक–परिषद् के संतोष के बिना किसी नाट्य–कृति को सफल नहीं माना जा सकता, चाहे उन दर्शकों में से कोई किसी भी रुचि का हो, किसी भी रस का रसिया हो। क्योंकि विभिन्न रुचि के लोगों को भी बराबर रस दे, वही तो नाट्य हैः नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् । मालविकाग्निमित्र में कवि ने नाट्य तथा नृत्य से सम्बद्ध महत्वपूर्ण सूत्र छोड़ दिये हैं जो हमें उस कवि की मंच–कल्पना तथा उसके कलाबोध का परिचय देते हैं।

इस कवि के संबंध में विद्वानों ने पर्याप्त चर्चा की है। हम उसके अतिरिक्त अन्य नाटककारों पर दृष्टि डालें तो प्रतीत होगा कि उज्जैन कई सुप्रसिद्ध रूपकों का वस्तु केंद्र बना है। भास के तीन रूपक (प्रतिज्ञा यौगंधरायण, स्वप्नवासवदत्ता तथा चारुदत्त), शूद्रक के दो रूपक (मृच्छकटिक तथा पद्मप्राभृतक), श्यामिलक का भाण (पादताड़तिक), वीणावासवदत्ता,

श्रीहर्ष की नाटिकाएँ (रत्नावली तथा प्रियदर्शिका) इत्यादि के साथ ही उदयन संबंधी समस्त रूपकों की वस्तु–रचना में उज्जयिनी का स्थान तथा महत्व कुछ कम नहीं है। परन्तु हमारे पास निश्चित प्रमाण नहीं है कि स्वयं उन रूपकों अथवा अन्य रूपकों के मंचीकरण का भी वह केन्द्र बना अथवा नहीं। कालिदास के समान मास अथवा बाणभट्ट की नाट्यमंडली ने यहाँ कुछ रूपक खेले हों अथवा शूद्रक ने अपनी कृतियों को यहाँ मंच पर प्रस्तुत किया हो, इन संभावनाओं की सप्रमाण पुष्टि नहीं की जा सकती, न उज्जयिनी की मंच–परंपरा के कोई बिन्दु ही उपलब्ध हैं। तथापि विकीर्ण संकेतों के आधार पर परंपरा के कुछ बिन्दुओं की परख करना अनुचित न होगा।

यों तो भरत तथा उसकी परंपरा की परिधि से भारतीय रंग तथा उस पर खेला जानेवाला नाट्य सामान्यतः अलग नहीं हुआ। परंतु मेधावी रूपाकार उन बंधनों से शतांश में प्रतिबद्ध भी नहीं रहे। भास, शूद्रक इत्यादि ने उन बंधनों को आंशिक रूप से अस्वीकार भी किया है। भरत के अनुसार प्रेक्षागृह का आधा भाग दर्शकों के लिए सुरक्षित रहता था तथा आधा भाग नटों के व्यवसाय के लिए। उसमें भी आधा रंगपीठ कहलाता था जहाँ अभिनय होता था तथा पिछला आधा भाग रंगशीर्ष कहलाता था जहाँ नटों का नेपथ्य विधान होता था। भरत के अनुसार नाट्य मंडप पर्वत की गुफा के आकार का दुमंजिला होना चाहिए जिसमें वातायन की कमी हो जिसमें ध्वनि निष्क्रमण के अभाव में अभिनेताओं की आवाज गंभीर हो जाये। उदयगिरि की रानीगुफा नाट्य–मंडप जैसी ही बनी है। संभवतः वहाँ जनरुचि के लिए नाट्य–प्रबंध होता था। भरत के अनुसार इन प्रेक्षागृहों में दर्शकों के बैठने के लिए सीढ़ीनुमा, भूमि से एक हाथ ऊँचे आसन बने रहते थे जो लकड़ी अथवा ईटों से निर्मित होते थे। इन स्थायी रंगमंचों की व्यवस्था प्रायः राजमहलों में अथवा गणिकाओं तथा रईसों के भवनों में भी होती थी। मंदिर के प्रांगण भी प्रायः प्रेक्षागृह का काम देते थे। महाकाल के मंदिर–प्रांगण में गणिका के नृत्य का उल्लेख मेघदूत में है। दशकुमारचरित (षष्ठ उच्छ्वास) से भी इसकी पुष्टि होती है। जनसाधारण तो अपने समाज के मनोविनोद के लिए खुले स्थानों पर ही किसी चबुतरे अथवा लकड़ी के तख्तों के मंच पर नाटक कर लेते थे। मंच से ही आज का माचा (पलंग) शब्द बना है और इस पर खेला जाने वाला खेल मालव में आज भी माच कहलाता है।

भोज के समरांगणसूत्रधार के अनुसार राजप्रासाद में व्यायाम गृह, नृत्य–संगीत गृह, स्नान गृह, शय्यावास, प्रेक्षावेश्म, दर्पण गृह (प्रसाधनकक्ष) इत्यादि होने चाहिए। (83/23–54)। साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि नगर के दक्षिण में नट–नर्तक बसाने चाहिए। (द्विजेंद्रनाथ शुक्ल कृत भारतीय वास्तुशास्त्र–पुरनिवेश, पृ. 168)। मालविकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि अग्निमित्र के राजप्रासाद में प्रेक्षागृह था जहाँ मालविका का नृत्य हुआ था। नाट्य तथा नृत्य के प्रारंभ की सूचना मृदंग–ध्वनि से ही हो जाती थी। मृच्छकटिक में वसंतसेना के भवन के चौथे कक्ष का रंगशाला के रूप में वर्णन प्राप्त होता है, जहाँ गायन, वादन तथा नर्तन के साथ ही श्रृंगार नाटकों का भी पाठ होता था। यहाँ इन विभिन्न कलाओं की गणिका–बालाओं को शिक्षा दी जाती थी। स्वयं वसंतसेना विभिन्न कलाओं में पारंगत होने से अभिनय में भी बेजोड़ थी। इसीलिए मृच्छकटिक के प्रथम अंक में वसंतसेना को खोजते हुए शकार के साथ विट कहता है कि यह रंगमंच की कलाओं में निष्णात होने से स्वर परिवर्तन कर हमें धोखा दे सकती है।

महर्षि पतंजलि विदिशा तथा उज्जैन के मध्य गोनर्द में रहते थे अतः उनके संकेत भी मालवा की नाट्य–परंपरा में विशेष सहयोगी सिद्ध हो सकते हैं। उन्होंने कंसवध तथा बलिबंधन के प्रत्यक्ष अभिनय का संकेत करते हुए बताया है कि कंसानुयायी शोभनिक अभिनेता काले रंग से मुँह पोतते थे तथा कृष्णानुयायी लाल रंग से। ये रंग क्रमशः राक्षस तथा देवता के भेदक थे। पतंजलि कहते हैं कि व्यंजन नटभार्या के समान होते हैं। रंगमंच पर जाने पर नट स्त्री से जो कोई (नट) पूछता है कि 'तुम किसकी हो' वह उसे ही कह देती है, तेरी। तात्पर्य यह है कि अभिनेत्री को यथावसर आचार्य के आदेश पर समय–समय पर भिन्न–भिन्न अभिनेताओं के साथ, उनकी पत्नी के रूप में अभिनय करना पड़ता था, जो स्वाभाविक है। ऐसा ही एक अभिनेत्री का उल्लेख शूद्रक ने पद्मप्राभृतक नामक भाण में किया है। उज्जैन की सुंदरी गणिका देवदत्ता की बहन देवसेना के पास उज्जैन के नाट्याचार्य गंधर्वदत्त अपने शिष्य नाटेरक (नटीपुत्र) दर्दुरक के हाथ, कुमुद्वती प्रकरण में कुमुद्वती की भूमिका निभाने हेतु, कुमुद्वती की भूमिका की नकल (लिपिपत्र) पहुँचाते हैं। (चतुर्भाणी, पृ. 50)। देवसेना पत्र लेकर कुमुद्वती को प्रणाम करती है, क्योंकि उसे उसी की भूमिका निभाना है। यह उस युग में अभिनय का शिष्टाचार था।

कालिदास के विक्रमोर्वशीय के अनुसार, देवसभा में लक्ष्मी की भूमिका निभाते समय तनिक चूक पर आचार्य भरत की कोपभाजन बनती है। ये गणिकाएँ नृत्य की बारी के अनुसार आचार्य के घर नृत्य करने जाती थीं। देवदत्ता भी जाती है। चंद्रमुखी देवदत्ता का उल्लेख पतंजलि ने भी किया है। श्यामिलक के पादताडितक में श्रृंगार प्रकरण का भी उल्लेख हुआ है। वररुचि के उभयाभिसारिका भाण से ज्ञात होता है कि पटना के राजभवन में पुरंदरविजय संगीतक के रसानूरूप अभिनय के लिए देवदत्ता के साथ अन्य गणिका को भी बयाना मिला था। अर्थात् अभिनेत्रियाँ तथा अभिनेता तो पहले से निश्चित कर लिये जाते थे ताकि वे निश्चत समय पर उपलब्ध रह सकें। इस अभिनय के बदले उन्हें धन भी मिलता था। उज्जैन के संदर्भ में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, परंतु इतना तो निश्चित है कि कुमुद्वती प्रकरण यहाँ खेला गया होगा एवं चतुर्भाणी के युग में यहाँ नाट्य मंडलियाँ रही होंगी।

कामसूत्र के अनुसार बाहर से आये हुए नट पहले दिन नागरिकों को नाटक दिखाकर उसका पारिश्रमिक दूसरे दिन लें। यदि लोग देखना चाहें तो पुनः देखें अन्यथा नटों को विदा कर दें। नगर के नटों तथा आगंतुक नटों को कष्ट तथा आनंद में परस्पर सहयोग करना चाहिए। स्पष्ट ही नट मंडलियाँ भ्रमण करती और नाटक दिखाती रहती थीं। वीणावासवदत्ता (तृतीय अंक) से ज्ञात होता है कि रूपक के पात्रों की भूमिका के लिए योग्य व्यक्तियों का चयन किया जाता था। किस पात्र को कब तक मंच पर रहकर कब हट जाना चाहिए, इसका सम्यक् पूर्व परीक्षण (रिहर्सल) करने पर ही रूपक प्रदर्शित किया जाता था। ये नाट्य संगीतक भी कहलाते थे, क्योंकि प्राचीन नाट्य संगीत प्रधान होते थे। उनमें पद–पद पर श्लोक तथा गीत होते थे। गीत, वाद्य तथा नृत्य का नाट्य में समाहार रहता था। मालविका प्रेक्षागृह में गाती हुई नृत्य करती है। वसुदेव हिंदी में सूचिनाट्य का उल्लेख है जिसमें सुइयों से बचते हुए नृत्य किया जाता था। मोज की श्रृंगारमंजरी कथा में क्षुरिकानाट्य नाचने का उल्लेख है। जिसे जगद्विलक्षण बताया गया है जिसमें बहुत कम नर्तकियाँ पारंगत होती थीं। पादताडितक (श्लोक 97 के बाद) से ज्ञात होता है कि उज्जैन में वैश्याध्यक्ष प्रतिहार द्रौणिलक के घर प्रेक्षा में नर्तकी मयूरसेना के

गीत सहित नृत्य प्रारंभ करते ही प्रयोग दोष बताये गये परन्तु विदर्भ के तलवर हरिशूद्र ने मयूरसेना का पक्ष लेकर उसका हृदय जीत लिया। प्राश्निक निर्णायक ने भी इसका ही पक्ष लिया। सारी गणिकाओं के समक्ष मयूरसेना का सम्मान बढ़ गया। ऐसे आयोजनों में प्राश्निक रहते थे जो विवाद के अवसर पर निर्णय देते थे। मालविका के नृत्य में गुण–दोष निर्णय के लिये परिव्राजिका कौशिकी निर्णायिका ही थी। ऐसे आयोजनों में कलाविद् प्रतिष्ठित जनों तथा मित्रों को आमंत्रित किया जाता था। हरिशूद्र ऐसा ही आमंत्रित सदस्य था। नृत्य अथवा अभिनय के निर्दोष एवं आकर्षक होने पर रसिक दर्शक दाद देने से भी नहीं चूकते थे। (दशकुमारचरित, षष्ठ उच्छ्वास) स्त्रियोचित लास्य नृत्य में अभ्यस्त पुरुष लासक कहलाते थे। बाणभट्ट के मित्रों में एक लासक युवक था। पादताडितक (97/12) में भी लासक उपचंद्रक का उल्लेख है। इन नाट्यों की संगीत के बिना कल्पना नहीं की जा सकती। प्रस्तुति को अवसर पर मृदंग का अनवरन उपयोग होता था। मालविकाग्निमित्र का कहना है कि नृत्य के प्रारंभ की सूचना मृदंग की ध्वनि दे देगी। पद्मप्राभृतक (22/12) में आश्चर्य व्यक्त किया गया है कि बिना मृदंग के नाटक का अंक पूरा हो गया। उसी प्रकार पादताडितक (श्लोक 42) में भी अचरज व्यक्त किया गया है कि बिना वीणा मृदंग के एक नट नाटक (भाण) समाप्त हो गया। आज तक उज्जैन के माच की मृदंग या मादल ढोल के बिना कल्पना नहीं की जा सकती। नाट्य अथवा नृत्य के प्रारंभ में वाद्यों पर देव–प्रार्थना अथवा मंगलगान होता था। (पादताडितक, श्लोक 97 के बाद)। उज्जैन के ही मदिरालय में एक यौधेय (हरियानवी) विट वाष्प एक हाथ में चषक ले झाँझ–मजीरे की धुन पर कूल्हे मटकाता–नाचता नट–नटी और चेटों के बीच जा घुसता है। (पादताडितक, 31)।

पाडताडितक (126/2) में धावकि का उल्लेख है। इस भाण में आये वररुचि, वैद्य हरिचंद्र इत्यादि नाम विद्वानों में सुप्रधित हैं। अतः उपर्युक्त तथ्य यह कहकर नहीं टाला जा सकता कि रूपक में व्यक्त नाम काल्पनिक होने से उसमें तथ्य खोजना अनुचित होगा। सातवीं सदी के पूर्वार्ध में उज्जैन के राजा हर्ष विक्रमादित्य ने नाट्यवार्तिक की रचना और रत्नावली, प्रियदर्शिका, नागानन्द नाटकों की रचना की थी। प्रधानतः मुंज के युग से अवंती का काव्य गौरव फिर बढ़ चला। मुंज के ही समय उज्जैन में धनंजय ने दशरूपक रचा और उसके भाई धनिक ने भोज के समय उस पर टीका लिखी। भोज ने अवंती को विशेष गौरव प्रदान करने का प्रयास किया। काव्यशास्त्र में उसने विभिन्न रीतियों को मिलाने वाली अवंतिका रीति की कल्पना की। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने जिसे आवंति प्रवृत्ति कहा है, भोज ने उसे आवत्या कहा है। नाट्य के संदर्भ में भोज का कहना है कि विदग्ध अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित वस्तु को दर्शक सम्यक् रूप से धारण कर सकते हैं अथवा महाकवियों के द्वारा प्रबंध में प्रस्तुत विचार विद्वानों की समझ में आ जाते है, पर प्रत्यक्ष प्रतीयमान पदार्थ वैसा आस्वाद नहीं देते जैसा वाक्पटुओं की वाणी से पदार्थों में स्वाद आ जाता है। इसीलिए अभिनेताओं से कवि को भोज विशेष आदर देता है तथा अभिनय की अपेक्षा काव्य को (श्रृंगारप्रकाश. पू. 2)। फिर भी भोज ने रूपक के विषय में अन्यत्र सुंदर विचार व्यक्त किये हैं। भोज के द्वारा धारा में निर्मित शारदासद्म (भोजशाला) में रूपक का प्रदर्शन होता था।

राजवल्लभ (भोजचरित. पृ.23) के अनुसार एक बार भोज को नाटक दिखाया गया, जिसमें बताया गया था कि तैलप मुंज को वानर के समान घर–घर भीख माँगने को मजबूर

करता है। भोज ने क्रुद्ध होकर तैलप पर आक्रमण कर दिया। भोज ने अपनी श्रृंगारमंजरीकथा में नाटक, कपट–नाटक, रंगशाला तथा उसकी सज्जा का उल्लेख किया है। नटी के अभिनय का राज बताते हुए कहा गया है कि हृदय में सुख अथवा दुःख न होने पर भी वह रोती है। (पृ.17)। नृत्याधिदेवता, नृत्योपाध्याय आदि के उल्लेख के साथ ही बताया गया है कि विशेष नर्तकियों विशेष नृत्य प्रस्तुत करने में दक्ष होती थीं। लावण्यसुंदरी देशी प्रेक्षणक की विशेषज्ञा थी अशोकवती क्षुरिकानाट्य में। श्रृंगारप्रकाश (पृ. 468) में प्रेक्षणक को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि सड़क पर, मेले में, चौराहे या चौतरे पर अथवा भव्य भवन में, अनेक पात्रों द्वारा प्रस्तुत खेल प्रेक्षणक कहलाता था, पर लावण्यसुंदरी अकेली ही राजभवन में यह नाट्य प्रस्तुत करती है। वलय झंकार तथा संगीतध्वनि से मिश्रित नृत्त–ताल आकर्षक मानी जाती थी। भोजकृत चम्पूरामायण (सुंदरकाण्ड, 12 तथा 15 वें श्लोक) के नाटक में सूत्रधार की महत्ता दर्शायी गयी है जो नाट्य का प्रवर्तन करता है। वहाँ वह भी बताया गया है कि जिस नाटक का मंचन हो, वह अपूर्व तथा नवीन हो तो उसका आर्कषण बढ़ जाता है। एक श्लोक से नाट्य–समाप्ति का मनोरम रूपक प्रस्तुत हुआ है : वर्षानटी गगन–रंग से चली गयी। उसके रंग से जाते ही, नाट्य समाप्त होने से, तत्काल मेघ रूपी सारे वाद्य शांत हो गये और अचानक दामिनी के दीपक भी बुझा दिये गये।

काव्यरुचि से संपन्न परमार राजा अर्जुनवर्मदेव (13वीं सदी) के गुरु बालसरस्वती मदन ने इसी राजा को नायक बनाकर पारिजातमंजरी अथवा विजयश्री नाटिका रची जो उपर्युक्त शारदासद्म अथवा भोजशाला में विद्वानों एवं रसिकों के समक्ष खेली गयी, जिसे देखने सारी धरा ही भारती भवन की ओर उमड़ पड़ी थी। अवंती परिक्षेत्र में खेला जाने वाला यह अंतिम ज्ञात प्रदर्शन है। इस परंपरा से लोक परंपरा कुछ भिन्न रही होगी। एक हरियानवी नाच का उल्लेख पहले हो चुका है। उपर्युक्त प्रेक्षणक तथा देशी नाच भी लोक–परंपरा में ही परिगणित होंगे। इस मालवी नाट्य परंपरा के साथ ही यहाँ की चित्रकला में मालवा शैली के समान, संगीत में मालव राग का संकेत गीतगोविंद से मिलना प्रारंभ हो जाता है। परंतु जब से मुस्लिम–युग प्रारंभ हुआ, उज्जयिनी की शिष्ट मंच पंरपरा का भी पटाक्षेप हो गया।

पुरातन प्रेक्षाओं में अवंती सुन्दरियों के थिरकते पदों की पायल की झंकार हमारे प्राचीन रसिक रचयिताओं ने शब्दों में बाँधकर अमर करने का प्रयास किया जिसकी धीमी रुनझन अब भी साहित्य में सुनी जा सकती है। क्योंकि उपर्युक्त कालावधि में संभवतः अन्य रूपक भी उज्जैन में खेले गये होंगे। परंतु अब तक वे प्रकाश में नहीं आये। विक्रम विश्वविद्यालय की स्थापना के अनंतर, प्रधानतः डॉ. सुमन के कुलपतित्व में, उज्जैन स्तरीय रूपकों को प्रस्तुत करने में अग्रणी रहा है। डॉ. प्रभात कुमार भट्टाचार्य, श्री भगवतीप्रसाद शर्मा तथा प्रो. श्रीनिवास रथ के अथक उत्साह के परिणाम में यहाँ नाट्य की स्तरीय परंपरा ही बन गयी है और कालिदास समारोह में तो लगातार संस्कृत तथा हिन्दी के रूपक सफलता से प्रस्तुत किये जाते हैं। अब तो उज्जैन में कई नाट्यदल धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक नाट्य प्रस्तुत कर रहे हैं और मालवा के लोकनाट्य माच का केन्द्र भी उज्जैन है। यहाँ कई माच गुरुओं ने नये–नये माच लिखे, उनकी प्रस्तुतियाँ उज्जैन, मालवा और देशभर में की हैं।

पौराणिक वांग्मय में शिव

• शशिप्रभा तिवारी

पौराणिक : अमरकोश पुराण को प्राचीन के अर्थ में सिद्ध करते हैं। वेद–पुराणों में भी पौराणिक के लिए यही अर्थ दोहराया गया है। संस्कृत–हिन्दी कोश में पौराणिक शब्द के पुराणों से सम्बद्ध, पुराणों का सुविज्ञ ब्राह्मण, अतीत काल के आख्यानों के ज्ञाता, जन साधारण में बैठकर पुराणों का पाठक, पुराणविद्, पौराणिक कथा जानने वाला व्यक्ति आदि अनेक अर्थ सुझाये गये हैं। इस शोध पत्र में पौराणिक का अर्थ पुराणों से सम्बद्ध समीचीन लगता है।

वांग्मय : तत्सम्बन्धी साहित्य अर्थात् ब्रह्म, पद्म, वैष्णव, शिवपुराण (वायु) भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड पुराण से है।

अष्टादशपुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते 4 यह प्रसिद्ध है कि पुराण 18 हैं। 5 पुराणों की गणना में चौथे स्थान पर कहीं वायु और कहीं शिव पुराण के नामों का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त मुनिजनों ने और भी अनेक उपपुराण बतलाये हैं। इसके क्रम में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। ब्रह्माजी ने सृष्टि निर्माण के समय समस्त शास्त्रों में सर्वप्रथम पुराण का ही स्मरण किया था।

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्राह्मण स्मृतम्।

शिव के अनेक अवतार हुए हैं, जो भक्तों के हितसाधना के लिए अनुकूल है। उनकी संख्या न तो गिनी जा सकती है और न ही निर्दिष्ट की जा सकती है। 7:18 पुराणों में 3,95,000 श्लोक है। इन्हीं श्लोकों में शिव किन रूपों में उपस्थित हैं, इसी पर विचार करना है। वैदिक संहिताएँ हमारी सबसे प्राचीन साहित्यिक कृत्तियों के रूप में उपस्थित है। वेद प्रधानतः कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हैं व उपनिषदों में ज्ञान की गंगा है। ये पुराण ही है जिसने, भक्ति मार्ग को जन्म दिया है। पुराणों के अनेक उद्देश्यों में एक जन साधारण में ज्ञातत्व विद्याओं का प्रचार करना भी था। पुराण की महत्ता उसके प्राचीन होने के बाद भी अपनी क्रमबद्ध कथा शैली और भाषा की सरलता के कारण मानस हृदय में नवीनतम स्फूर्ति को संचारित करने में सफल रहा है। हमारी सनातन संस्कृति पुराण साहित्य पर ही अवलम्बित है। पुराणों में ही वेद की प्रतिष्ठा निहित है।

वेदों में जब हम शिव के स्वरूप के ज्ञान के बारे में जानने का यत्न करते हैं तो अधिकांशतः रुद्र शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। यदि कहीं शिव शब्द का उल्लेख आया भी है तो वह भी रुद्र शब्द के पर्याय के रूप में ही आया है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में रुद्र के तीन ही सूक्त उपलब्ध होते हैं।

1. इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने। 1/11ऋग्वेद
2. त्वदत्तेभि रुद्र शांतमेभिः शतं। 2/33 ऋग्वेद
3. इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः। 7/46 ऋग्वेद

इसके अतिरिक्त अन्य देवताओं के साथ इनका नाम लगभग 50 बार आया है। यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के दूसरे मंत्र में रुद्र की प्रार्थना में कहा गया है।

या ते रुद्र शिव तनूरघोरापाकाशिनि।
तया नस्तन्वा शान्तमय गिरिष्ठाभि चकशीहि।।

हे रुद्र! जो आपका कल्याणकारी, उपद्रवरहित और धर्म का प्रकाश करने वाली काया है। उस शान्तिमय शरीर से हमारे लिए कल्याणकारी हो और अपने उपदेशों से हमें सुखों की ओर अग्रसर करें। शुक्ल यजुर्वेद में रुद्र के स्थान पर शिव का नाम लेकर प्रार्थना की गयी है।

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः सादिराय।
च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवत्रय च।।

मुख्य रूप से इस मंत्र में यह कथन है कि हे शिव! आप सबका कल्याण करने वाले हो, आपको नमस्कार। पत्र पुष्पों से पूजित होने पर सांसारिक सुख देने वाले तथा शास्त्रचर्चा एवं मनन करने पर पारलौकिक मोक्ष देने वाले शिव को मेरा प्रणाम है। शिवपुराण में स्वयं शिव ने प्रकट होते है जिसमेंद शिव और रुद्र में कोई भेद नहीं दिखाई देता है। इसी बात को सिद्ध करने के लिए यह प्रमाण भी दिया गया है कि

सुवर्णस्य तथैकस्य वस्तुत्वे नैव गच्छति। अलंकृतिकृते देव नामभेदो न वस्तुतः

अर्थात् सुवर्णखंड में समरूप में एक ही वस्तुत्व विद्यमान रहता है, किंतु उसका आभूषण बना देने पर नाम भेद आ जाता हैं। वस्तुत्व की दृष्टि से उसमें भेद नहीं होता। कुमारी अलकारानी चौधरी ने सन् 1984 में 'वेदों में रुद्र' विषय पर अपने शोध प्रबन्ध में उद्धृत करते हुए लिखा है– यदि किसी प्राचीन देवता को हम पौराणिक शिव मान सकते हैं, तो वह वैदिक देवता रुद्र ही हो सकते हैं। 'तात्पर्य यह कि ऋग्वेद में रुद्र का उल्लेख है। वहाँ शिव रुद्र के नाम से जाने जाते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों तथा उपनिषद् साहित्य में भी हम रुद्र का ही यशोगान पाते हैं। सत्ता एवं सृष्टि के तत्व के रूप में शिव का विवेचन पुराणों में है। पुराणों में शिव, शिव व रुद्र दोनों नामों से उल्लेखित हैं।

पुराणों में शिव

पुराणों में शिव की महत्ता का अतिशय प्रतिपादन किया गया है। अतिशयता का प्रमाण यही है कि इन 18 पुराणों में से दस शिव (वायु), भविष्य, मार्कण्डेय, लिंग, वाराह, स्कन्द, मत्स्य, कूर्म, वामन और ब्रह्माण्ड में शिव, वैष्णव, भागवत, नारद और गरुड़ चार में विष्णु, ब्रह्म और पद्म दो में ब्रह्मा और अन्य दो में से अग्नि पुराण में अग्नि तथा ब्रह्मवैवर्त में सूर्य की महिमा गायी गयी है। मत्स्य पुराण में सर्व फल त्याग नामक व्रत के प्रसंग में यह बताया गया है कि इस अवसर पर विष्णु, ब्रह्मा और शंकर में किसी प्रकार का विभेद भावना न रखते हुए इनकी पूजा सम्पन्न करनी चाहिए।

यथा भेदं न पश्यामि शिवविश्वर्कपंडमजान्।
तथा मामस्तु विश्वात्मा शंकरः शंकरः सदा।।

वामन पुराण इसमें शिवलिंग पूजा, शिव–पार्वती विवाह, शिव–लीला चरित्र का वर्णन आता है। वामन पुराण में स्थाणुतीर्थ तथा स्थाणुवट का वर्णन आया है। जिज्ञासा हुई स्थाणुतीर्थ और स्थाणुवट क्या है? स्थानु का शाब्दिक अर्थ शिव के विशेषण के रूप में प्रयुक्त दिखाया गया है। किंवदतियों के अनुसार यहाँ ब्रह्मदेव द्वारा शिव लिंग की स्थापना की गयी है। इस प्रकार शिव के नाम का उल्लेख होने से हमारे शोध अध्ययन का हिस्सा बन गया। वर्तमान में यह हरियाणा राज्य का हिस्सा है।

स्कन्द पुराण के माहेश्वर खंड का प्रारंभ भगवान शिव को ब्रह्मा एवं विष्णु का स्वामी बताते हुए स्तुति की गई है।

यस्याज्ञ जगत्वस्रष्टा विरंचि पालको हरि।
संहर्ता कालरुद्रारव्यो नमस्तस्मै पिनाकिने।।

दक्ष प्रजापति के यज्ञ विध्वंस के पश्चात दक्ष प्रजापति द्वारा प्रार्थना में इस प्रकार कहा गया हैं–

नमामि देवं वरदं वरेण्यं नमामि देवं च सदा सनातनम्।
नमामि देवाधिमीश्वरं हरं नमामि शम्भू जगडेकबन्धम्।।

शिव पुराण में ब्रह्मदेव जब सृष्टि के सृजन के लिए तपस्यारत थे तो ब्रह्मदेव के दोनों भौंहों के मध्य अविमुक्त स्थान अर्धनारीश्वर रूप में प्रकट होते हैं; आधा शरीर पुरुष और आधा नारी, ऐसा कहा गया है।

अविमुक्ताभिधादेशात्स्वकियान्मे विशेषतः।
अर्धनारीश्वरो भूत्वा पूर्णास्याक्लेश्वरः।।

शिव पुराण के एक अन्य संदर्भ में दक्ष के द्वारा देवी जगदम्बा से प्रार्थना के रूप में कहते हुए दिखाये गये हैं जिसमें दक्ष कहते हैं–मैं शिव का परमभक्त हूँ। शिव स्वयं ब्रह्मा के पुत्र के रूप में रुद्र के नाम से अवतीर्ण हुए हैं, जो परमात्मा के पूर्णावतार हैं।

मम स्वामी शिवो यो हि स जातो ब्राह्मणस्तुतः।
रुद्रनाम पूर्णरूपावतारः परमात्मानः।।

शिव पुराण के एक और संदर्भ में ब्रह्मा के अनाचार प्रकरण में शिव के कुपित होने पर दंड देने की रूप में कहा गया है। स्थिति में देवताओं द्वारा शिव को प्रसन्न करने लिए प्रार्थना के रूप में कहा गया है।

त्वमादिस्त्वमनादिश्च प्रकृतेस्त्वं परः पुमान्।
विश्वेश्वरो जगन्नाथो निर्विकारः परात्परः।।
योऽयं ब्रह्मास्तिऽ रजसा विश्वमूर्तिः पितामहः।

शिव पुराण में शिव स्वरूप का वर्णन करते हुए एक संदर्भ में शिव को महान् योगी कहा गया है; सिर पर जटाएँ व चन्द्रकला हैं, जो अपनी आँखें बंद कर योग मुद्रा में बैठता है।

कपार्डिनं चन्द्रकलाविभूषणं वेदान्तवेद्यं परमासने स्थितम्।

शिव ने स्वयं पार्वती के तप की परीक्षा लेने के क्रम में जटाधारी, बूढ़े ब्राह्मण, हाथ में दण्ड तथा छत्र जैसा रूप धारण किया।

परीक्षण बहुधा शम्भुर्द्रष्टु तां तुष्टमानसः।।
जातिलं रूपमास्थय स यौ पार्वतीवनम्।
अतिव स्थविरो विप्रदेही स्वंतेजेसा।।
प्रज्वलनमनसा हृष्टो दण्डसी छत्रि बभुव स।।

यद्यपि शिव पुराण शिव की गाथा का ही प्रणयन है। इसके अतिरिक्त अन्य पुराणों में भी शिव से सम्बन्धित संदर्भ उपस्थित हैं।

लिंग पुराण में एक संदर्भ उपस्थित हुआ है जिसमें दारुक नामक असुर, जिन्हें किन्हीं स्त्री के हाथों ही मृत्यु को प्राप्त होने का वरदान प्राप्त हुआ था। अत्याचारों व आतंक को सहते हुए सभी लोग ब्रह्मदेव को साथ लेकर शिव के समक्ष उपस्थित हुए और दारुक के समाप्ति का अनुरोध किया। शिव ने पार्वती से दारुक का वध कर लोक कल्याण की मंशा जतायी। पार्वती के शरीर को शिव ने अपने तीसरे नेत्र से कपर्दिनी (जटाजूट वाली) काली को उत्पन्न किया। इसी क्रम में दारुकासुर के वध पर काली अत्यन्त क्रोधाग्नि से शांत नहीं हो पा रहीं थी। शिव ने माया से बालरूप धारणकर काली के क्रोध को शांत करने हेतु काशी के श्मशान में जाकर रुदन

किया। शिव की माया से मोहित होकर काली ने उन्हें उठाकर अपना स्तनपान कराया। बालरूपी शिव ने दूध के साथ उनका क्रोध भी पी गये। शिव ने काली के गणों व काली के प्रसन्नता के लिये वहाँ ताण्डव किया। कूर्म पुराण में कहा गया है कि सृष्टि विषयक चिन्तन में लगे विष्णु के सम्मुख प्रथम ब्रह्मा का अविर्भाव हुआ। अकस्मात् क्रोध उत्पन्न होने से त्रैलोक्य का संहार करने के लिए हाथ में त्रिशूल धारण किये तीन नेत्रों वाले सूर्य के समान प्रकाशमान महेश्वर रुद्रदेव वहाँ उत्पन्न हुए।

आत्मनो मुनिशार्दुलस्तत्र देवो महेश्वरः।
रुद्रः क्रोधात्मजो जज्ञे शूलपाणिस्त्रिलोचनः।
तेज़सा सूर्यसंकाशास्त्रैलोक्यं संहार्निव।।

हजारों सूर्य के समान देदीप्यमान तथा प्रलयकालीन अग्नि के सदृश प्राणमय रूद्र प्रकट हुए।

पुराणों में शिव का भौतिक स्वरूप

शिव पुराण में उनके भौतिक स्वरूप का उल्लेख कुछ इस प्रकार किया है। नेत्र बंद हैं। आभूषण के रूप में चन्द्रमा है। जटाएँ बढ़ी हुई है। उत्तम आसन पर ध्यानरत योग मुद्रा में बैठे हैं।

परतत्त्वं महायोगी त्रिगुणात्परमव्ययम्।।
दृष्ट्वा तदानीं सकलेश्वरं विभुं तपोजुषाणं विनिमिलितेक्षणम्।।
कपर्दिनं चन्द्रकलाविभूषणं वेदांतवेधं परमासने स्थितम्।

शिव पुराण में ही विघ्न वेष धारण किये स्वयं महादेव पार्वती की परीक्षा लेने के लिए शिव के रूप का वर्णन इस प्रकार करते दिखाई देते हैं।

वृषध्वजो महादेवो भस्मदिग्धो जटाधरः।।
व्याघ्रचर्माअम्बरधरः संवितो गजकृतिना।।
कपालधारी सर्वोच्चौसर्वगात्रेषु वेष्टितः।

वे बैल की सवारी करते हैं। भस्म पोते रहते हैं। जटा धारण करते हैं। व्याघ्रचर्म धारण करते हैं तथा हाथी का चमड़ा ओढ़ते हैं। कपाल धारण करते हैं। सांप लपेटे रहते हैं। भूत–प्रेतों के साथ निवास करते हैं। गले में विष पड़ा रहता है।

कैलाश पर्वत पर विराजे शिव के समक्ष जब देवगण जाते हैं तो शिव को देखकर उनके स्वरूप का वर्णन इस प्रकार करते हैं। उनका बायें पैर के ऊपर दायें पैर तथा घुटने के पास बायां हाथ रखे हुए थे। चारों ओर उनके गण उनकी सेवा में तत्पर थे।

सव्यक्तेतर्पादं तदर्हितकरं बुजम्।
स्वगणैः सर्वतो जुष्टं सर्वलक्षणलक्षितम्।।

शिव पुराण का कथन है कि वे बाघम्बर में लिपटे रहते हैं। वृषभ पर सवार, पाँच मुख, तीन नेत्र, अंग में भस्म लगाये, जटा जूट लटकाए, सिर पर चन्द्रमा, कपाल की माला, व्याघ्रचर्म का उत्तरीय, हाथ में पिनाक, त्रिशूल, गजचर्म ओढ़े दुल्हा बने शिव को देख पार्वती की माता भयभीत हो उठीं। विष्णु पुराण में प्रजापति ने उसे भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव कहकर सम्बोधित किया है। कूर्म पुराण में भी इन्हीं नामों का संकेत प्राप्त होता है।

भवः सर्वस्थेशानः पशूनां पतिरेव च।
भीमशोग्रोस्ता महादेवनि नामानि सप्त वै।।

शिव जी का शरीर अग्नि के समान उद्दीप्त था। अग्निकुण्ड के समान उनकी आँखें लाल थी। उनके शरीर से सहस्त्रों अग्नियों और कोटि सूर्य के समान प्रभा छिटक रहीं थी। अंग में अग्नि के रंगवाली विभूति से दमक रहे थे। ललाट पर बालचन्द्र शोभा दे रहीं थी।

अग्निवर्णमजं देवमग्रीकुंडनिभेक्षणम्।
अग्न्यादित्यसत्ररामर्तिवर्णविभूषितम्।
चन्द्रवयवल्लक्ष्माणं चन्द्रसौम्यतराननम्।
आगम्य तमजं देवमथ तं नीललोहितम्।।

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार गंगा अवतरण के प्रसंग में यह उल्लेखित है कि गंगा को शिव ने अपनी जटाओं में धारण किया और आगे बहने के लिए नहीं छोड़ा। भगीरथ की शिवस्तुति से गंगा शिव की जटाओं से आगे निकल गई।

तान्प्लावयित्वाम्रेताहिमवन्तमहागिरिम्।
दघत्रत्रताशम्भुर्नमुमोचवृषध्वजः।
भग्येरोपवासै स्तुत्याचाराधितोविभुः।

समुद्र मंथन प्रसंग में चन्द्रमा को ग्रहण करने के क्रम में माहेश्वर कहा गया।

ततः शीतांशुरभवजगृहे तं महेश्वरः।

शिव पुराण के शतरुद्रसंहिता में ब्रह्मा और विष्णु द्वारा चारों वेदों से पूछने पर शिव को ही परमतत्व के रूप में उल्लेखित किया है।

ऋग्वेद :

यदन्तस्थानि भूतानि यत्ससर्ववमप्रवर्तते।
यदाहुः परमन्तत्त्वं स रुद्रस्त्वेक एव हि।।

जिनके भीतर सम्पूर्ण भूत स्थित हैं, जिनसे सब कुछ प्रवृत्त होता है एवं जिन्हें परम तत्व कहते हैं, वे एकमात्र रुद्र ही है।

यजुर्वेद :

यो यज्ञैरखिलैरिशो योगेन च समिज्यते।
येन प्रमाणं खलु नस्स एकः सर्वदृक् चिवः।।

मनुष्य योग एवं समस्त यज्ञों के द्वारा जिन ईश्वर की आराधना करता है और जिनसे निश्चय ही हम लोग प्रमाणित होते हैं, वे एकमात्र सबके द्रष्टा शिव ही परमतत्व है।

सामवेद :

येनेदंभ्रम्यते विश्वं योगिभिर्यो विचिन्त्यते।
यमसा भासते विश्वं स एकद्वत्रयम्बकः परः।।

यह जगत जिनके द्वारा भ्रमण कर रहा है, योगीजन जिनका चिन्तन करते हैं और जिनके प्रकाश से यह संसार प्रकाशित हो रहा है, वे एकमात्र यम्बक शिव ही परमतत्त्व हैं।

अथर्ववेद :

यं प्रपश्यन्ति देवेशम्भक्त्यनुगृहिणो जनाः।
तमहुरेक कैवल्यं शंकरं दुःखतः परम्।।

जिनकी भक्ति का अनुग्रह प्राप्तकर भक्तजन उनका साक्षात्कार करते हैं, उन्हीं दुःखरहित एवं कैवल्यस्वरूप एकमात्र शंकर को परमतत्व कहा गया है।

विश्व कल्याण के लिए कालकूट भक्षण :–

कालकूट का प्रसंग अति महत्वपूर्ण है। पुराणों में समुद्र मंथन का वर्णन प्राप्त होता है। विषैली वृत्तियों के कारण अमानवीय कृत्य अपना प्रभाव प्रदर्शित करने लगता है। शनैः शनैः परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए यह कृत्य भयंकर विषघर का रूप धारण कर लेता है। कुछ समय पश्चात इस असहनीय विष के निदान का कोई उपाय नहीं रह जाता। समुद्र–मंथन की कथा इसी बात की पुष्टि करती है। देवताओं और राक्षसों के बीच यही स्थिति पैदा हो गई थी। देवगण व राक्षस शिव के पास इस कालकूट विष से निदान की आशा से प्रार्थना के लिए पहुँचे थे। शिव के साथ देवी सती भी बैठी थी। शिव ने कहा–देवी! ये बेचारे

किसी प्रकार अपने प्राणों की रक्षा करना चाहते हैं। इस समय मेरा कर्तव्य है कि मैं इन्हें निर्भय कर दूँ। जिनके साथ शक्ति सामर्थ है, उनके जीवन की सफलता इसी में है कि वे दीन–दुःखियों की रक्षा करें। सज्जन पुरुष अपने क्षणभंगुर प्राणों की बलि देकर भी दूसरे प्राणियों की रक्षा करते हैं। अभी–अभी में इस विष का भक्षण करता हूँ, जिससे प्रजा का कल्याण हो। हाथ पर तीक्ष्ण हलाहल लिया और उसका भक्षण कर लिया। विष के प्रभाव से उनका कण्ठ नीला पड़ गया और नीलकण्ठ कहलाये। भागवत पुराण के अनुसार पहले–पहल हालाहल नामक अत्यन्त उग्र विष निकला।

न हि कल्याणकृत्कश्चिहुर्गतिं तत् गच्छति।

कल्याणकारी कर्म करने वाले योगी का इस लोक अथवा परलोक में भी विनाश नहीं होता। समुद्र मंथन क्यों करना पड़ा इस सम्बन्ध में शास्त्रों का कहना है कि दुर्वासा ऋषि के शाप के कारण स्वर्णलोक श्रीहीन हो गया जिस कारण दानवों और राक्षसों ने स्वर्ग पर अधिकार प्राप्त कर लिया। खोयी प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए समुद्र मंथन का कार्य करना होगा उससे अमृत की प्राप्ति होगी जो देवताओं को अमरता प्रदान करेगी। ऐसा कहा गया है कि समुद्र मंथन एकल कार्य नहीं है। अतः इसमें राक्षसों और दानवों को साथ लेना होगा। उनसे यह कहना है कि समुद्र मंथन से अमृत की प्राप्ति होगी उसने देवों और दानवों का समान अधिकार होगा।

विष्णु पुराण के अनुसार प्रथम कामधेनु अवतरित हुई।
मथ्यमाने ततस्तस्मिन्क्षीरब्धौ देवदानवैः।।
हविर्धामाऽभवत्पूर्व सुरभिः सुरपूजिता।।

विष्णु पुराण विष को नागों द्वारा ग्रहण करने की बात करता है।

ततः शीतांशुरभवजगृहे तं महेश्वर।
जगृहुश्च विषं नागाः क्षीरोदाब्धिसमुत्थितम्।।

जबकि स्कन्द पुराण महेश्वर खंड केदार खंड में शिव को कालकूट से मुक्ति दिलाने की बात की गयी है। उस कालकूट विष को देखकर वे सब देवता और दैत्य वहाँ से भाग खड़े हुए। लौकिक लाभ के लिए अनेक शाखीय एवं लौकिक क्रियाओं का विधान है। शास्त्र का विधान है के स्वधर्म के आचरण में प्रमाद के दोषी का पापफल भोगना पड़ता है।

पौराणिक वांग्मय की राष्ट्रीय एकता में सहभागिता :–

पुराणों का महत्व क्या है इस विषय पर दृष्टि डालें तो पुराण अनौपचारिक शिक्षा व्यवस्था की ओर इंगित करता है। पुराणों में नीति, दर्शन, धर्मशास्त्र काव्य, वास्तु, आयुर्वेद, व्याकरण, ज्योतिष, शरीर विज्ञान आदि शास्त्रीय और वैज्ञानिक विषयों का प्रतिपादन किया गया है। जिसके परिणाम स्वरूप अक्षर ज्ञान से रहित जनता भी पुराणों के माध्यम से केवल श्रुति द्वारा शिक्षा का संस्कार पाते थे। पुराणों की राष्ट्रीय एकता के निरूपण की दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि पुराणों में भारतवर्ष की एकता का सफल प्रयास किया गया है। दो पुराणों विष्णु और भागवत आदि में भारतवर्ष की महिमा का वर्णन किया गया है।

अत्र जन्मसहस्त्राणं सहखैरपि सत्तम।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यस (यत्।।
गायन्ति देवाः किल गीतिकानि धन्यस्तु ते भारत भूमिभागो।
स्वर्गापवर्गस्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।

जीव को सहस्त्रों जन्मों के बाद महान् पुण्यों के उदय होने पर ही कभी इस देश में मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। देव गण भी निरन्तर यही गान करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्ग

के मार्ग भूत भारतवर्ष में जन्म लिया है वे पुरुष हम देवताओं की अपेक्षा अधिक धन्य हैं। देवता भी यहाँ जन्म लेने को उत्सुक रहते हैं। भागवतपुराण के पंचम स्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय के 21 श्लोक में यही बात दुहराई गयी है।

अहो अमीषां किमकरी शोभनं आकर्षक एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यार्जन्म लब्धं नृषु भरतजिरे मुकुन्देवौपयिकं स्पृहा हि नः।।

देवता भी भारतवर्ष में उत्पन्न हुए मनुष्यों की इस प्रकार महिमा गाते हैं–अहा! जिन जीवों ने भारतवर्ष में भगवान की सेवा के योग्य मनुष्य जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है ? अथवा इन पर स्वयं श्री हरि ही प्रसन्न हो गये हैं ? इस परम सौभाग्य के लिये तो निरन्तर हम ही तरसते रहते हैं।

ऋग्वेद में शिव के बारे में जानने का प्रयत्न करते हैं तो शिव के स्थान पर रुद्र प्राप्त होते हैं। कहीं–कहीं शिव का उल्लेख भी है तो रुद्र के पर्याय के रूप में। पुराणों में ये रुद्र के स्थान पर शिव के रूप में पहचाने गये। स्वयं शिव ने प्रकट होकर शिव और रुद्र में भेद न होने की बात कहीं है। अल्का रानी चौधरी ने भी अपने शोध प्रबंध में वैदिक रुद्र और पौराणिक शिव को एक माना है। लगभग सभी पुराणों–उपपुराणों में रुद्र, शिव, महेश, महादेव और इन जैसे अनेक नामों का उल्लेख प्राप्त होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेव संहिता, सामवेद संहिता, अथर्ववेद संहिता
- शतपथ ब्राह्मण
- शिव पुराण, वायु पुराण, भविष्य पुराण, गार्कण्डेय पुराण, लिंग पुराण, वराह पुराण, स्कन्द पुराण, मत्स्य पुराण, कूर्म पुराण, वामन पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, विष्णु पुराण, भागवत पुराण (वेद व्यास गीता प्रेस, गोरखपुर)
- अमरकोष – अमरसिंह खेमराज कृष्णदास, मुम्बई।
- संस्कृत हिन्दी कोष वामन शिवराम आप्टे मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
- वेदों में रुद्र–कुमारी अल्कारानी चौधरी, पी.एच.डी. उपाधि हेतु अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के लिए प्रस्तुत शोध प्रबंध, 1984
- शिव पुराण एक समीक्षात्मक अध्ययन–राजेश कुमार, डी. फिल. उपाधि हेतु इलाहाबाद विश्वविद्यालय के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, 2003
- Rudra-Siva Concept in the Vedic and The Puranic Literature-Maumita Bhattacharya, thesis for the degree of Doctor of Philosphy-Guwahati University, 2018.
- सिंह. भी अमर–अमरकोश, खेमराज श्रीकृष्णदास श्री वेंकटेश्वर यंत्रालय मुम्बई सम्वत 1970, 3/1/76 पृ.सं.–211
- ऋग्वेद–तं गढ़या पुराचया पुनानामभ्यषत् 9.99.4
- आप्टे वामन शिवराम संस्कृत–हिन्दी कोश, चौखंबा विद्या भवन, वाराणसी, पुर्नमुद्रित संस्करण–2012, पृ–637
- वेदव्यास श्रीविष्णुपुराण–गीताप्रेस गोरखपुर
- वेदव्यास–मत्स्यपुराण, गीता प्रेस गोरखपुर
- वेदव्यास श्रीशिवमहापुराण गीता प्रेस गोरखपुर
- इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विवि की पाठ्य सामग्री बी. एसके. सी. 102. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक विश्लेषण, खंड–3, पुराण,
- वेदव्यास–स्कन्द पुराण, गीता प्रेस गोरखपुर
- वेदव्यास मत्स्यपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर
- वेदव्यास–लिंगपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर
- वेदव्यास–सूरमपुराण–गीता प्रेस, गोरखपुर
- वेदव्यास–कूर्मपुराण–गीता प्रेस, गोरखपुर
- वेदव्यास–कूर्म पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर
- वेदव्यास–भागवतपुराण गीता प्रेस गोरखपुर

अनुश्रुतियों में भर्तृहरि एवं विक्रमादित्य

• डॉ. धीरेन्द्र सोलंकी
• अनिमेष नागर

भारतीय जनमानस के स्मृति पटल को भर्तृहरि एवं विक्रमादित्य ने गहनरूप से प्रभावित किया है। भारतीय उपमहाद्वीप पर विद्यमान विभिन्न संस्कृतियों में उभय भ्राताओं की गौरवगाथा को अविस्मरणीय स्थान प्राप्त हैं। भारत के प्रत्येक राज्य में विक्रमादित्य एवं भर्तृहरि के कथानक को अपने–अपने क्षेत्राचार एवं संस्कृति के अनुरूप ढाल कर प्रस्तुत किया गया हैं। भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक चरित्र के कारण एक–दूसरे को बाधित करती हुई अनुश्रुतियाँ, एक ही कालखण्ड में घटित हुई समान घटनाएँ एक–साथ निर्विरोध रूप से अपने–अपने क्षेत्र में दोनों भ्राताओं के यश को गुंजायमान करती हैं। कश्मीर से लेकर केरल पर्यन्त उज्जयिनी के राजा भर्तृहरि एवं उनके अनुज विक्रमादित्य के जीवन से जुड़े अनेक कथानक, अनुश्रुतियाँ एवं लोकोक्तियाँ प्राप्त होती हैं। उत्तम काव्य एवं केसर की भूमि कश्मीर में उत्पन्न हुए कल्हण अपनी राजतरंगिणी के तृतीय तरंग में सम्राट् विक्रमादित्य से संबंधित एक आख्यान का उल्लेख करते हैं।

– जिस समय राजा हिरण्य के निधन के कारण कश्मीर की भूमि नृपति विहीन हो गई उस काल में उज्जयिनी में एकछत्र चक्रवर्ती सम्राट् विक्रमादित्य का शासन था।

– सम्राट् विक्रमादित्य साक्षात् विष्णु के समान थे, जो राज्यलक्ष्मी के परीपालन में नीरत

थे। उनके द्वारा मलेच्छ शकों का विनाश ठीक उसी प्रकार किया गया जिस प्रकार नारायण अवतार ग्रहण कर असुर–राक्षसों का करते थे।

सम्राट् को कश्मीर की वस्तुस्थित ज्ञात थी अतः मातृगुप्त के गुणों तथा बुद्धिमत्ता से प्रसन्न होकर उसे अपने हस्ताक्षरों से युक्त एक पत्र व कुछ द्रव्य देकर कश्मीर भेजा। यह पत्र कश्मीर के मन्त्रियों तथा कुलीनों के नाम था। उसे आदेश दिया गया की वह उज्जैन से कश्मीर की यात्रा अकेले करें। पत्र में लिखा था– मातृगुप्त को योग्यता के कारण कश्मीर का राजा नियुक्त किया जाये, राजसिंहासन का रिक्त रहना राजपुरूषों के लिए समुचित नहीं हैं। कश्मीर के मन्त्रियों तथा कुलीनों ने पत्र पर विचार करने के लिए परिषद् बुलायी। अन्त में यह निर्णय किया गया कि महाराजाधिराज विक्रमादित्य का आदेश सर्वथा पालनीय है अतः मातृगुप्त को कश्मीर के सिंहासन पर अभिषिक्त किया जाये। सम्राट् विक्रमादित्य के अनुग्रह से मातृगुप्त ने पाँच वर्ष तीन मास तथा एक दिन तक कश्मीर पर शासन किया। इस आख्यान से हमें सम्राट् विक्रमादित्य की गुणग्राह्यता, दूरदर्शिता एवं धर्मनिष्ठा का बोध प्राप्त होता हैं। महाकवि सुबन्धु ने संस्कृत साहित्य के प्रथम गद्यकाव्य श्वासवदत्ता में सम्राट् विक्रमादित्य का स्मरण काव्य के परमरसिक, विद्वानों एवं कवियों के आश्रयदाता के रूप में कार्य किया है। सुबन्धु लिखते है– जिस प्रकार तालाब में पंक मात्र रह जाने पर सारस पक्षी अन्तर्हित हो जाते है, बगुले भी दृष्टिगोचर नहीं होते और न कंक पक्षी ही विचरते है, उसी प्रकार पृथ्वी पर महाराजाधिराज विक्रमादित्य के कीर्तिमात्र शेष रहने पर वह रसिकता नष्ट हो गयी।

भविष्यपुराण के प्रतिसर्ग पर्व के सप्तम् अध्याय में महाराज विक्रमादित्य के जीवन का वर्णन प्राप्त होता हैं। भारत भूमि पर जब कलिकाल का आगमन हुआ, तब शकों के विनाश और सनातन धर्म की रक्षा के लिए भगवान् शिव के गण ने धरा पर विक्रमादित्य के नाम से राजा गन्धर्वसेन के गृह में अवतार लिया। वे बचपन से ही महापराक्रमी एवं बुद्धिमान थे। पाँच वर्ष की आयु में तपस्या करने उन्होंने वन गमन किया। बारह वर्षों तक तपस्या कर उन्होंने सिद्धियाँ प्राप्त की। अवन्ति नगरी में बत्तीस मूर्तियों से समन्वित, भगवान् शिव के द्वारा अभिरक्षित रमणीय दिव्य सिंहासन सुशोभित किया। देवी पार्वती के द्वारा प्रेषित एक वेताल हमेशा उनकी सेवा में रहता था। सम्राट् विक्रमादित्य ने गुर्जर प्रतिहारादि क्षत्रिय वंशों की चार राजकुमारियों से विवाह किया। मुनियों की आज्ञा से उन्होंने अश्वमेधयज्ञ किया एवं चक्रवर्ती राजा का पद ग्रहण किया। अन्त में धर्मपूर्वक राज्य करते हुए पुनः शिवलोक को प्राप्त किया।

सोम भट्टदेव रचित कथासरित्सागर के अठाहरवें लम्बाक के प्रथम तरंग में सम्राट् विक्रमादित्य के अवतरण का कथानक प्राप्त होता हैं। इस कथानक के अनुसार जब भूमि पर असुरों का पुनर्जन्म म्लेच्छों (शकों) के रूप में हुआ तब भगवान शिव ने उनके माल्यवत् संज्ञक प्रमथगण ने उज्जयिनीपुरी में महिंद्रादित्य के राजवंश में विक्रमादित्य अभिधान से अवतार ग्रहण कर शकों का पराभव कर शिव क्षेत्र का रक्षण किया। माल्यवत् के आज्ञापालन से प्रसन्न होकर देवी पावर्ती के द्वारा उन्हें वीरसिद्धि प्रदान की गयी।

गुजरात के चालुक्य राजा कुमारपाल देव के जीवन–चरित्र का वर्णन करने वाला ग्रन्थ कुमारपाल चरित्र में जैनाचार्य सिद्धसेनदिवाकर एवं सम्राट् विक्रमादित्य संबंधित आख्यान प्राप्त होता है।

एक बार जब उज्जयिनी में सिद्धसेन दिवाकर का नगर प्रवेश हुआ तो विक्रमादित्य उनके त्रिकालज्ञ होने की बात सुनकर, अवन्तिपार्श्वनाथ चैत्य में उनसे भेंट करने पहुँचे। विक्रमादित्य ने यह प्रश्न किया कि मेरे समान गुणी धर्मप्रिय एवं सार्वभौम राजा धरती पर पुनः कब उत्पन्न होगा। सिद्धसेनदिवाकर द्वारा एक प्राकृत गाथा में प्रत्युत्तर में कहा गया सम्राट् विक्रमादित्य के सहस्रवर्ष पश्चात् कुमारपाल नाम का राजा होगा जो गुण एवं पराक्रम में उन्हीं के समान होगा। कुछ शब्दान्तरों के साथ यह आख्यान सोमदेवसुरिकृत कुमारपालचरित्रम् में भी प्राप्त होता है।

उज्जैन के बौद्धाचार्य परमार्थ द्वारा चीनी भाषा में अनुवादित किये आचार्य सुबन्धु के जीवन चरित्र में अयुज (उज्जैन) के राजा विक्रमादित्य का वर्णन किया हैं। परमार्थ लिखते है महाराज विक्रमादित्य सनातन एवं बौद्धादि मतों के प्रति सम्भाव रखने वाले धर्मप्रिय राजा थे। उनकी सभा में सांख्याचार्य विंध्यवासी ने सुबन्धु के गुरू बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। विक्रमादित्य के द्वारा विन्ध्यवासी को तीन लाख स्वर्णमुद्राएँ प्रदान की गई थी।

चीनी यात्री इत्सिंग द्वारा अपने यात्रा विवरण ता–तंगड–सी–यु–की में वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का उल्लेख किया गया है।

प्रसिद्ध विद्वान अलबरूनी ने तारिख–उल–हिन्द में सम्राट् विक्रमादित्य एवं आचार्य व्याडि के कथानक का उल्लेख किया हैं। रससिद्धाचार्य व्याडि प्राचीन भारतीय रसायनशास्त्र के ज्ञाता एवं विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। साथ ही अलबरूनी ने सम्राट् विक्रमादित्य के द्वारा शकों के पराभव का आख्यान तथा इसकी स्मृतिरूप में प्रवर्तित किये गये विक्रम सम्वत् का उल्लेख किया है। इनके वर्णन अनुसार पश्चिमी व दक्षिणी भारत के क्षेत्र में विक्रम सम्वत् प्रचलित था।

नेपाल देश में प्रसिद्ध देवमाला वंशावली में वर्णित अनुश्रुति के अनुसार 12 वर्ष की अवस्था में विक्रमादित्य एक बार छद्मवेशधारण कर उज्जैन से नेपाल तीर्थयात्रा पर गये। नेपाल के सूर्यवंशी राजा धर्मदेव के द्वारा नित्य प्रचुर मात्रा में स्वर्णदान किया जाता था। इस अथाह संपदा का रहस्य ज्ञात करने हेतु उन्होंने राजा धर्मदेव की गुप्त रूप से पीछा किया। राजा नित्य निशाकाल में देवी व्रजयोगिनी का दर्शन करने शांखु आते थे, पूजन के पश्चात् वे अपने देह से माँस की बलि देवी को चढ़ाते थे, जिससे प्रसन्न होकर देवी उन्हें अथाह स्वर्ण प्रदान किया करती थी। जब यह रहस्य विक्रमादित्य को ज्ञात हुआ तो उन्होंने राजा धर्मदेव के आने के पूर्व ही देवी वज्रयोगिनी का पूजन कर अपने सिर को काटकर देवी को भेंट कर दिया। इस प्रकार विक्रमादित्य के आत्म बलिदान से प्रसन्न होकर देवी ने उन्हें पुनः जीवित कर चक्रवर्ती सम्राट् होने का वरदान दिया। देवी व्रजयोगिनी के प्रसाद से उन्हें अग्निवेताल की सिद्धि प्राप्त हुई। व्रजयोगिनी का यह मन्दिर नेपाल के शंखमूल (सांखू) में स्थित हैं।

नेपाल के पुरातत्व विभाग द्वारा प्रकाशित भाषावंशावली के प्रथम खण्ड में भी यह आख्यान शब्दान्तरों के साथ प्राप्त होता है। इस पक्ष में सम्राट् विक्रमादित्य के जन्म, पराक्रम, नेपाल में व्यतित किये समय एवं अन्य कथानकों का वर्णन प्राप्त होता हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार सम्राट् विक्रमादित्य का जन्म वसन्त पंचमी को हुआ था।

तमिलनाडु में प्रचलित पट्टिनाधार एवं भर्तृहरिनाधार संबंधित अनुश्रुति है। इसके अनुसार

तमिलदेश के सिद्धपुरूष पट्टिनाधार काशीविश्वनाथ के दर्शन कर स्वदेश लौट रहे थे। यात्राक्लान्त होने के कारण उन्होंने उज्जयिनी की एक धर्मशाला में विश्राम किया। दैववशात् गन्धर्वसेन के पुत्र राजा भर्तृहरि के सैनिकों के द्वारा उन्हें आभूषणों की चोरी के निध्यारोप में बंदी बनाकर कारागार में डाल दिया गया। राजा द्वारा उन्हें चोरी के आरोप में सूली पर चढ़ा देने का दण्ड दिया गया। सैनिक जब राजा की आज्ञा का पालन करते हुए सूली तैयार कर रहे थे। तब पट्टिनाधार के दृष्टिपात मात्र से सुलो जलकर भस्म हो गई। इस पर जब संपूर्ण घटना का विवरण सैनिकों ने राजा भर्तृहरि को दिया तो उन्हें बोध हुआ कि ये कोई अपराधी न होकर महात्मा या सिद्धपुरूष है। राजा भर्तृहरि ने घटनास्थल पर पहुँचकर क्षमा याचना की और पट्टिनाधार को बंधन मुक्त किया। पट्टिनाधार ने राजा से पूछा, तुम्हें संसार में सबसे अधिक प्रेम एवं विश्वास किस पर है? राजा ने उत्तर दिया अपनी पत्नि पिंगला पर। इस पर मंद–मंद हँसते हुए पट्टिनाधार ने कहा पहले एक बार अपने अन्तःपुर का निरीक्षण तो कर लो। उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर जब भर्तृहरि ने अन्तःपुर में प्रवेश किया तो अपनी पत्नी पिंगला के अस्तित्व का प्रकटन हुआ, शुद्ध होकर भर्तृहरि ने अपना राज्य अपने अनुज विक्रमादित्य को सौंप संन्यास ग्रहण कर लिया। मात्र कौपीन तथा भिक्षापात्र धारण कर भर्तृहरि अपने गुरू पट्टिनाधार के साथ दक्षिण देश में चले गये। यहाँ पर तिरूवोट्टियुर नामक शिव क्षेत्र में साधना करते हुए भर्तृहरि को मोक्ष की प्राप्ति हुई।

ऐतिह्यमाला केरल की ऐतिहासिक तथा अनुश्रुति पर आधारित घटनाओं का संग्रह हैं जिसकी रचना केरल के प्रसिद्ध विद्वान कोट्टारथिल शाकुन्नि ने सन् 1875–1900 के मध्य की थी। इस ग्रन्थ में केरल के इतिहास से जुड़े व्यक्तित्वों का ऐतिहासिक तथा अनुश्रुतिओं के अनुरूप वर्णन प्राप्त होता है। सामान्यतः विद्वानों ने विक्रमादित्य तथा भर्तृहरि का संबंध मालव देश से जोड़ा है, परन्तु यदि ऐतिह्यमाला को आधार बनाकर इन दोनों व्यक्तित्वों का अध्ययन किया जाये तो इनका संबंध सुदूर दक्षिण की केरल भूमि से जोड़ा जा सकता हैं। डॉ. श्रीकुमारी रामचन्द्रन् तथा केरल के प्रसिद्ध इतिहासकार एम. आर वारियार ने ऐतिह्यमाला के आधार पर दोनों भ्राताओं का सम्बन्ध चेरदेश से जोड़ने को प्रयास किया हैं।

शाकुन्नि लिखते है– केरल के एक प्रसिद्ध नाम्बुधिरी घराने में एक मूर्ख ब्राह्मण बालक था, मेधा तथा प्रज्ञा के अभाव में विद्वानों के उस परिवार में वह अत्यन्त दुःख पाता था। एक बार अपने दादा के श्राद्ध में इस बालक से कोई अपराध होने के कारण उसे निष्कासित कर दिया गया और बालक से कहा गया यदि तुम महाभाष्य का सम्पूर्ण अध्ययन कर सकों तो यहाँ पुनः आना अन्यथा तुम्हें आत्मघात करना शोभा देगा। बालक ने निश्चय किया की वह महाभाष्य का अध्ययन अवश्य करेगा। केरल के विद्वानों में उस बालक की मूर्खता के किस्से प्रसिद्ध थे अतः कोई भी उसे महाभाष्य पढ़ाने को राजी नहीं हुआ। अन्त में बालक ने निराश होकर आत्मघात करने का विचार किया। वहीं एक वृक्ष पर विद्यादान नहीं करने के फलस्वरूप ब्राह्मण का प्रेत ब्रह्मराक्षस योनि में रहता था। ब्रह्मराक्षस ने बालक की प्राण रक्षा कर उसे महाभाष्य का अध्ययन करवाने का प्रस्ताव रखा। बालक को महाभाष्य पढ़ाने वाले गुरु की उपलब्धि हुई तथा उस ब्रह्मराक्षस को अपनी मुक्ति का मार्ग मिल गया। ब्राह्मण बालक रोज पेड़ के नीचे आता तथा उस ब्रह्मराक्षस से अध्ययन करता। ब्रह्मराक्षस गुरू ने उसे एक सिद्धौषधी भक्षण हेतु दी। इस औषधि

के प्रभाव से उस बालक ने मात्र महाभाष्य हीं नहीं अपितु अपने गुरू की समस्त विद्या का अध्ययन 12 वर्षों से भी कम अवधि में कर लिया। समापर्वतन का वह दिन आया जिसकी उसके ब्रह्मराक्षस गुरू को प्रतिक्षा थी, समापर्वत संस्कार होते ही गुरू की मुक्ति हो गई, उसने दिव्यदेह धारण कर अपने शिष्य को दर्शन दिये तथा एक चेतावनी दी ''अगले छः मास तक जल का स्पर्श मत करना अन्यथा तुम छःमास के लिए निद्रा में चले जाओगे।'' इतना कह कर वह अंतर ध्यान हो गये। अपने गाँव की ओर जाते समय ब्राह्मण युवक के चरणों का स्पर्श मार्ग में जल से हो गया, जल का स्पर्श होते ही वह तुरन्त छःमास की निद्रा में चला गया। उसी मार्ग से एक शूद्र जाति के पिता–पुत्री जाते थे। उन्होंने अचेत युवा को देखा, तो उन्हें उस पर दया आ गई। जैसे–तैसे वे उस युवा को अपने निवास पर ले आये। शूद्र कन्या उस युवक की सेवा पतिभाव से करने लगीं। छःमास शीघ्र ही व्यतीत हो गए, जब युवक की चेतना लौटी तो उस पिता–पुत्री ने उससे सब वृतान्त कह सुनाया। युवक ने धन्यवाद ज्ञापित करते हुए उस कन्या से वरदान माँगने को कहा, शूद्र युवती ने उसके सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रख दिया। युवक असमंजस में पड़ गया अगर वह वरदान न दे तो कृतघ्नता होगी और विवाह करने पर उसके ब्राह्मणत्व की हानि होगी। कुछ देर सोच विचार करने पर उस युवक ने कहा ''इस काल की परम्परा के अनुसार मैं तुमसे तभी विवाह कर सकता हूँ जब मैं ब्राह्मणी, क्षत्राणी तथा वैश्यकन्या से विवाह कर लूँगा क्या तुम्हें यह स्वीकार्य होगा?'' युवती इस परम्परा के विषय में जानती थी, अतः उसने युवक का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

युवक ने अपने गाँव पहुँचकर सभी विद्वानों से शास्त्रार्थ किया तथा उन्हें पराजित कर अपने घर में प्रवेश किया। युवक के माता–पिता काल के गाल में समा चुके थे, केवल एक वृद्धा ही वहाँ जीवित थी, युवक ने अपना सारा इतिवृत्त कह सुनाया। अपने वंश की रक्षा हेतु वृद्धा ने युवक को चारों वर्ण की कन्याओं से विवाह की अनुमति दे दी। युवक चूँकि अपना वरदान न भूला था इसलिए उसने शीघ्र ही तीन वर्णों की कन्याओं से विवाह कर लिया। युवक त्रैवर्णिक कन्याओं से विवाह कर अतिशीघ्र ही उस शूद्र कन्या के घर पहुँचा तथा कन्या की इच्छानुरूप उससे विवाह कर लिया। कालचक्र का पहिया घूमता रहा, प्रत्येक पत्नी से उसे एक–एक सन्तान की प्राप्ति हुई। ब्राह्मण वर्ण की पत्नी से उसे 'वररूचि' नामक पुत्र की प्राप्ति हुई जो आगे चलकर बड़ा प्रसिद्ध व्याकरण तथा संस्कृत का कवि हुआ। उनके प्रकृत प्रकाशम् तथा धनपंचकर्म अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। अपने पिता की ही भाती वररूचि ने चारों वर्ण की कन्याओं से विवाह किया। जिससे उन्हें 12 पुत्रों की प्राप्ति हुई। परिया जनजाती की कन्या से विवाह कर उन्होंने परिया जाती के मूलकुल की स्थापना की जिस कारण इन्हें परयी पेट्टु पन्थीकुलम् आदिपिता का अभिधान प्राप्त हुआ। वररूचि की ब्राह्मण पत्नी से उन्हें मेलझोथ्थर अग्निहोत्री नामक पुत्र प्राप्त हुआ जिसने आगे चलकर केरल में श्रौत्रयागों का रक्षण किया तथा 100 सोमयाग किये। क्षत्रियवर्ण की पत्नी से युवक को विक्रमादित्य नामक पुत्र की प्राप्ति हुई जो आगे चलकर उज्जैन का प्रसिद्ध सम्राट् हुआ। सम्राट् विक्रमादित्य बाल्यकाल से निडर तथा महावीर था, उसने केरल देश में भद्रकाली, उपासना तथा कालरीं का प्रचलन किया। आज भी केरल के क्षत्रिय तथा नायरवर्ग के जनों में इनका प्रचलन हैं। वैश्य वर्ण की पत्नी से उसे भट्टी नामक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसने आगे चलकर प्रसिद्ध भट्टिकाव्य की रचना की। शूद्रवर्ण की पत्नी से उसे भर्तृहरि नामक

पुत्र की प्राप्ति हुई जिसने आगे चलकर शतकत्रय की रचना की। इस ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में भर्तृहरि के जीवन का वर्णन प्राप्त होता हैं। भर्तृहरि के जीवन के विषय में दो प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं। प्रथम वर्णन के अनुसार भर्तृहरि का आरंभिक जीवन केरल में व्यतित हुआ। वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे तथा अपने संस्कृत काव्यों तथा व्याकरण के 'स्फोटसिद्धान्त' के कारण केरल में प्रसिद्धी प्राप्त की। युवा अवस्था में ही विरक्ति को प्राप्त कर इन्होंने संन्यास ग्रहण कर अपने जीवन का उत्तरार्ध चिदम्बर के पूर्व गोपुर के पास किसी स्थान पर आध्यात्मिक साधना करते हुए व्यतित किया। पट्टलनाथु पिल्लाई इनके गुरु थे जिनके द्वारा इन्हें दीक्षा दी गई थी। कालान्तर में इनके देहावसान के पश्चात् वहाँ के राजपरिवार ने इनके समाधिस्थल पर मंदिर समूह का निर्माण करवाया तथा उसमें इनके विषय में शिलालेख उत्कीर्ण करवाया जो आज भी वहीं पर मौजूद है तथा भर्तृहरि के जीवन में हुई घटनाओं का साक्ष्य दे रहे हैं।

दूसरे वर्णन के अनुसार वे अपने ग्राम के 'तम्बुरान' थे तथा लोक प्रशासन के इसी काल में इन्होंने नीतिशतक की रचना की, कालान्तर में इनका विवाह हुआ। भर्तृहरि की अपनी पत्नी पर अत्यन्त आसक्ति थीं इसी की पराकाष्ठा में उन्होंने श्रृंगारशतक की रचना की। भर्तृहरि अपनी भार्या के परपुरूषगमन से क्षुब्ध होकर युवावस्था में ही संन्यास धारण करने का संकल्प कर चिदम्बर नगर की ओर प्रस्थान कर गये। चिदंबरम् में इनकी भेंट पट्टलनाथु पिल्लाई नामक सिद्ध पुरूष से हुई। पट्टलनाथु पिल्लाई ने भर्तृहरि की अनेकों बार परीक्षा ली, अन्ततः सन्तुष्ट होकर इन्हें दीक्षा दे दी। सन्यस्त भर्तृहरि ने अपना शेष जीवन चिदंबरम् के पूर्वी गोपुर के बाहर एकान्त स्थल पर व्यतीत किया। यहीं पर इनके द्वारा वैराग्यशतक की रचना की गई। इस प्रकार विभिन्न अनुश्रुतियों में हम देखते है भारतीय जनमानस के मस्तिष्क पर भर्तृहरि एवं विक्रमादित्य ने कितना गहरा प्रभाव डाला है। उभय भ्राताओं के विषय में प्रत्येक राज्य की अपनी–अपनी अनुश्रुतियाँ एवं इतिहास हैं। भर्तृहरि भारत का वह महान् योगी है जो सहस्रों वर्षों से वैराग्य का अलख इस भूमि पर जगा रहा हैं। शकान्तकारी सम्राट् विक्रमादित्य भारतीय जनमानस के हृदय सम्राट् है जिन्हें प्रत्येक भारतीय ने अपने हृदय सिंहासन पर आरूढ़ कर रखा हैं। भर्तृहरि एवं विक्रमादित्य चिरस्मरणीय पुण्यपुरुष है जिनकी गौरवगाथा से भारतभूमि सदैव अनुगुंजायमान रहेगी।

विक्रमादित्य से संबंधित अनेकों कथाएँ प्राचीन कथा–ग्रन्थों में गुंथी गई हैं जिसके कारण उनका चरित्र अत्यन्त रोचक और बहुआयामी है। यद्यपि इन उपकथाओं में अनेकों प्रसंग अति मानवीय चमत्कारों से युक्त हैं। उदारता, चतुरता, समयज्ञता, न्याय–परायणता, प्रजावत्सलता, देशाटन–प्रेम, विद्या–प्रेम, देश–भ्रमण कर ज्ञान एवं शक्तियों का अर्जन करने की उत्कृष्ट इच्छा आदि गुणों को इन कथानकों में कुतूहल वर्धकता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

भविष्य पुराण से ज्ञात होता है कि राजा विक्रमादित्य का समय अत्यन्त सुख और समृद्धि का था। उस समय उनके राज्य में जयंत नाम का एक ब्राह्मण रहता था। घोर तपस्या के परिणाम स्वरूप उसे इन्द्र के यहाँ से एक फल की प्राप्ति हुई थी जिसकी विशेषता यह थी कि कोई भी व्यक्ति उसे खा लेने के उपरान्त अमर हो सकता था। फल को पाकर ब्राह्मण अपने घर चला आया तथा उसे राजा भर्तृहरि को देने का निश्चय किया और उन्हें दे दिया। एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार भर्तृहरि विक्रमादित्य के बड़े भाई तथा भारत के प्रसिद्ध सम्राट् थे। वे मालवा

की राजधानी उज्जयिनी में न्याय पूर्वक शासन करते थे। उनकी एक रानी थी जिसका नाम पिंगला बताया जाता है। भर्तृहरि ने वैराग्य क्यों ग्रहण किया यह बतलाने वाली अन्य किंवदन्तियाँ भी हैं जो उन्हें राजा तथा विक्रमादित्य का ज्येष्ठ भ्राता बतलाती हैं। इनके ग्रंथों से ज्ञात होता है कि इन्हें ऐसी प्रियतमा से निराशा हुई थी जिसे ये बहुत प्रेम करते थे। नीति–शतक के प्रारंभिक श्लोक में भी निराश प्रेम की झलक मिलती है। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने प्रेम में धोखा खाने पर वैराग्य जीवन ग्रहण कर लिया था, जिसका विवरण इस प्रकार है। इस अनुश्रुति के अनुसार एक बार राजा भर्तृहरि के दरबार में एक साधु आया तथा राजा के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए उन्हें एक अमर फल प्रदान किया। इस फल को खाकर राजा या कोई भी व्यक्ति अमर को सकता था। राजा ने इस फल को अपनी प्रिय रानी पिंगला को खाने के लिए दे दिया, किन्तु रानी ने उसे स्वयं न खाकर अपने एक प्रिय सेनानायक को दे दिया जिसका सम्बन्ध राजनर्तिकी से था। उसने भी फल को स्वयं न खाकर उसे उस राजनर्तिकी को दे दिया। इस प्रकार यह अमर फल राजनर्तिकी के पास पहुँच गया। फल को पाकर उस राजनर्तिकी ने इसे राजा को देने का विचार किया। वह राजदरबार में पहुँची तथा राजा को फल अर्पित कर दिया। रानी पिंगला को दिया हुआ फल राजनर्तिकी से पाकर राजा आश्चर्यचकित रह गये तथा इसे उसके पास पहुँचने का वृत्तान्त पूछा।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- भट्ट, सोमदेव, कथा सरित सागर, निर्णय सागर प्रेस, सागर, 1852
- बिरूनी, मुहम्मद इब्न अहमद, अल्बरूनीज़ इंडिया, खंड 1 और 2, लंदन, 1910
- योगिराज, क्षिप्रानाथ, देव माला वंशावली, गोरक्षग्रंथमाला, पुष्प–88, नेपाल, 1934
- शास्त्री, शंकरदेव, महाकवि सुबन्धुविरचिता वासवदत्ता, बनारस, 1954
- सूरि, जिनविजय, कुमारपालचरित्रसंग्रह, सिंधीजंगग्रंथमाला, ग्रंथांक–41, सुरत, 1956
- पौडेल, नयनाथ, भाषावली, भाग 1, नेपाल, 1964
- सरकार, डी.सी., प्राचीन मालवा और विक्रमादित्य परंपरा, दिल्ली, 1969
- सिंह, रघुनाथ, कल्हणकृतं राजतरंगिणी, दिल्ली, 1970
- खेमका, राधेश्याम, संक्षिप्त भविष्यपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1992
- करुप्पैया, पाझा, पट्टिनाथर ओरु पावई, (तमिल संस्करण), चेन्नई, 2013
- संकुन्नी, कोट्टाराथिल, ऐथिह्यामाला–द ग्रेट लेजेंड्स ऑफ केरल, कोझिकोड, संस्करण 2016

भारतीय विज्ञान परंपरा से विकास

• डॉ. रवि प्रकाश आर्य

ज्ञान और विज्ञान कभी भी अप्रासंगिक नहीं हो सकते। ज्ञान और विज्ञान कहीं भी हो, वह हमेशा प्रासंगिक ही होता है। दोनों चिरंतन हैं। तकनीकी प्रासंगिक और अप्रासंगिक हो सकती है, तकनीकी में विकास हो सकता है, कोई तकनीकी किसी एक राष्ट्र के लिए उपयोगी हो तो किसी दूसरे राष्ट्र के लिए अनुपयोगी हो सकती है, परंतु ज्ञान और विज्ञान कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकता।

अंग्रेजों के सौ वर्ष के शासनकाल में बड़े ही षड्यंत्रपूर्वक हमारे मन–मस्तिष्क में एक बात डाल दी गई है कि जो भी हमारे पास था, वह सब गलत था और जो पश्चिम से आने वाला है, वह सब सत्य होगा। इस विचारधारा का पल्लवन, पोषण एक लंबी परंपरा में हुआ। परंतु यह कहना कि ज्ञान और विज्ञान पश्चिम की धरोहर है और वहाँ से ही इसका फैलाव हुआ, बिल्कुल अमान्य है। पश्चिम का ज्ञान और विज्ञान से संबंध बहुत नया यानी केवल दो सौ वर्षों का है। ज्ञान और विज्ञान की जितनी प्राचीनता इस देश में रही, वह पश्चिम में नहीं रहा है।

ज्ञान और विज्ञान शब्दों का सबसे पहला प्रयोग भारत में ही हुआ। वैदिक काल से लेकर उपनिषदों में, गीता में इसका उपयोग मिलता है। वहाँ कहा है कि जो ज्ञान और विज्ञान दोनों को साथ–साथ जानता है, वही वास्तव में विकसित होता है, उसका ही कल्याण होता है। यदि आप

केवल ज्ञान से परिचित हैं, तो आप आगे नहीं बढ़ सकते हैं और यदि केवल विज्ञान को लेकर चलते हैं, तो भी आप आगे नहीं बढ़ सकते हैं। भविष्य का दर्शन ज्ञान और विज्ञान के समन्वय से ही होने वाला है। हमारे यहाँ ऐसी बात कही गई है।

ज्ञान और विज्ञान को सबसे पहले परिभाषित करने वाले भी हम हैं। आचार्य शंकर ने ज्ञान और विज्ञान दोनों की परिभाषा दी है। उपनिषदों का भाष्य करते हुए वे लिखते हैं कि ज्ञान केवल एक सूचना है, परंतु जब वह सूचना अनुभूति का विषय बन जाए तो वह विज्ञान बन जाता है। उदाहरण के लिए ईश्वर है, यह ज्ञान है। परंतु जब योगी जब उस ईश्वर की अनुभूति करता है, तो वह विज्ञान बन जाता है। इसका अर्थ है कि अनुभूतिजन्य ज्ञान ही विज्ञान है।

पश्चिम में भी विज्ञान का उद्‌भव हुआ और उन्होंने भी इसको परिभाषित किया। उनके अनुसार जो इंद्रियों के प्रेक्षण पर आधारित है, वही विज्ञान है। जो दिखता है, प्रयोगशाला में प्रयोग किए जाते हैं और उसमें जो भी दिखता और साबित होता है, उसे ही विज्ञान कहा जाता है। जो प्रयोगशाला में साबित नहीं होता, उसे वे विज्ञान नहीं मानते। इस ब्रह्माण्ड में बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनका प्रेक्षण संभव नहीं है। प्रेक्षण योग्य यानी इंद्रियों द्वारा जानने योग्य। आँख, नाक आदि से हमें जो दिखता या अनुभव होता है, उसे ही प्रत्यक्ष कहते हैं। बहुत सी ऐसी चीजें हैं जो प्रत्यक्ष नहीं हैं। जैसे संवेदनाएँ हैं, मन के विचार हैं। इनका कोई प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। ये आधुनिक विज्ञान की सीमा में नहीं आती।

इस प्रकार हमारे यहाँ विज्ञान अधिक गहनतम था। पश्चिम का विज्ञान काफी छिछला है। यदि हम ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का रहस्य जानना चाहते हैं, तो हम उसके लिए भी प्रयोग करके देखना चाहते हैं। जब पश्चिम में विज्ञान का उदय हो रहा था, तब उनके समक्ष यह प्रकृति थी। इस प्रकृति के भौतिक गुण–धर्मों के अध्ययन के लिए भौतिकी और रासायनिक गुणों के अध्ययन के लिए रसायन विज्ञान प्रारंभ हुआ। फिर जीव विज्ञान प्रारंभ हुआ। आज चेतना की भी बात प्रारंभ हो गई है। इस प्रकार बिखरे हुई तरीके से अध्ययन किया जा रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में वर्ष 1835 के आस–पास भारत में ज्ञान–विज्ञान की समृद्ध परंपरा थी। यह अंग्रेजों के सर्वेक्षणों का ही परिणाम है। इस काल में विश्व व्यापार में भारत का योगदान 43 प्रतिशत है। विश्व निर्यात में भी भारत का योगदान लगभग 38 प्रतिशत है। आज विश्व व्यापार में भारत की हिस्सेदारी 0.01 प्रतिशत के लगभग है। वर्तमान में विश्व व्यापार में अमेरिका और चीन का मिलाकर हिस्सा लगभग 49 प्रतिशत ही है। यानी उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारत दुनिया के व्यापार के शीर्ष पर था। उस समय स्टील आदि धातु उद्योग, चमड़ा उद्योग, वस्त्र उद्योग सभी पर भारत का एकाधिकार है। ब्रिटिश संसद में उस समय एक बहस चली थी कि डेनमार्क से स्टील खरीद कर जो समुद्री जहाज बनाते हैं, यह तो काफी मंहगा पड़ता है। क्यों नहीं, हम भारत द्वारा 40–50 वर्ष प्रयोग करने के बाद छोड़े गए जहाजों का उपयोग कर लें। वह उसके बाद भी काफी दिनों तक चलेगा और वह काफी सस्ता पड़ेगा। वर्ष 1840 के आस–पास की यह घटना है। यह भारत के विज्ञान और तकनीक का एक अच्छा उदाहरण है।

उस कालखंड में उद्योग भारत में अपने चरम पर था। लगभग 50 प्रकार के उद्योग धंधे भारत में चल रहे थे। भारत में उस समय स्टील का उत्पादन लगभग 90 लाख टन प्रतिवर्ष होता

था। मध्य प्रदेश के सरगुजा आदि क्षेत्रों के लोग जिन्हें हम आज आदिवासी कहते हैं, वे सभी स्टील बनाते थे। अंग्रेजों ने उन पर प्रतिबंध लगाए और बड़ी कंपनियों को स्टील बनाने का ठेका दे दिया। इससे भारत के उद्योग नष्ट हो गए। इसी प्रकार भारत का वस्त्र उद्योग विश्वप्रसिद्ध था। मधुबनी और सूरत इसके दो बड़े केंद्र थे। रोम शासक तक के कपड़े भारत से ही जाता था। उन्हें वस्त्र पहनना हमने ही सिखाया।

यूरोप की स्थिति यह है कि वहाँ बहुत कम वनस्पतियाँ होती हैं। यूरोप के कई देशों में आलू, पत्ता गोभी आदि के अलावा अधिक सब्जियाँ नहीं होतीं। हमारे यहाँ ढ़ेर सारी वनस्पतियाँ और औषधियाँ होती हैं। इसलिए यहाँ आयुर्वेद का विकास हुआ। हमारे पूर्वजों, ऋषियों ने हर पेड़–पौधे पर शोध करके उसके गुण–धर्मों की विवेचना की और उसके लाभ और प्रभाव बताये। परंतु यह यूरोप में तो संभव ही नहीं था। इसलिए वहाँ जब एलोपैथिक का जन्म हुआ तो वह रासायनिक पदार्थों पर आधारित था। रसायनों से ही वे वस्त्र भी बनाने लगे। पोलिएस्टर, टेरीलीन आदि तो केमिकल से बने हुए हैं। हमारे यहाँ सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्र बनते थे और वह बहुत सस्ता होता था। आज यही सूती और रेशमी वस्त्र इतने मँहगे बिक रहे हैं, जबकि यूरोपीय विज्ञान के बनाये केमिकल वाले वस्त्रों को कोई पूछता भी नहीं। सभी को पता है कि वे शरीर के लिए हानिकारक हैं।

इसी प्रकार यूरोप ने रासायनिक खाद बनाये। उन्होंने कहा कि हमारे गोबर खाद से तो फसल बढ़ती नहीं, इसलिए रासायनिक खाद डालो। परंतु यह रासायनिक खाद मिट्टी के सभी सूक्ष्म कीटों को नष्ट कर देता है। पेड़–पौधे तेजी से बढ़ तो जाते हैं, परंतु उनमें पोषण नहीं होता और धीरे–धीरे मिट्टी भी बंजर होती जाती है। बार–बार रासायनिक खादों का प्रयोग करेंगे तो वह काम नहीं करेगा। यह कैसा विज्ञान हुआ?

हमारे यहाँ इस प्रकार का विज्ञान और तकनीक थी कि हम प्रकृति का पूरा संतुलन बना कर रखते थे। हम प्रकृति के विरुद्ध कार्य ही नहीं करते थे। आज जो ग्लोबल वार्मिंग हो रहा है, ओजोन परत का क्षरण हो रहा है, ये विज्ञान के कारण नहीं हो रहा है, यह तकनीकी के कारण हो रहा है। हम ऐसी तकनीकी का विकास कर रहे हैं, जो प्रकृति के अनुकूल नहीं है। तकनीकी का विकास प्राचीन काल में भी हुआ। वृहद् विमानशास्त्र एक बहुत बड़ा ग्रंथ है। उसमें उल्लेख है कि विमानों में वातावनुकूलन कैसे किया जाये। जयपुर का हवामहल देखें। वह भी वातावनुकूलित है। तो प्रकृति के अनुकूल भी ऐसी तकनीकी है जिसका प्रयोग करके मानव जीवन की दीर्घता और सुविधा दोनों ही बढ़ाई जा सकती है। परंतु ऐसी तकनीक जिससे मानव का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाए, वह कैसी तकनीक कही जाएगी?

इसलिए ज्ञान और विज्ञान की जितनी समझ प्राचीन काल में हमारे ऋषियों एवं वैज्ञानिकों को थी, ज्ञान और विज्ञान की उतनी समझ आज के वैज्ञानिकों को नहीं है। यदि उन्हें यह समझ होती तो हम प्रकृति के अनुकूल रहने वाली तकनीकी का विकास करते। तकनीकी का विकास करने से पहले उसकी उपादेयता पर विचार करते। अभी यह हो रहा है कि हम व्यावसायिकता के कारण तकनीकी का विकास और उपयोग करते हैं और बाद में हमें पता चलता है कि यह तो बड़ी घातक है, यह सस्टेनेबल नहीं है। यह तो पृथ्वी पर मानव जीवन को समाप्त कर देगी।

आज हमने विमान बनाए हैं, कार, बस, ट्रेन आदि वाहन बनाये हैं। इनसे आवागमन सुगम हुआ है। परंतु ये किससे चलते हैं – कोयला, पेट्रोलियम आदि से। धरती को फोड़ कर उसके अंदर से निकाले जाने वाले इन पदार्थों को वैदिक ग्रंथों में पूरीष्याग्नि कहा गया है। संस्कृत में पूरीष का अर्थ होता है मल–मूत्र। ब्राह्मण ग्रंथों में कहा गया है कि धरती पर पूरीष्याग्नि भी विद्यमान है, जो इस ब्रह्माण्ड का, इस पार्थिव जगत का मल–मूत्र है। उससे भी ऊर्जा पैदा की जा सकती है। यह भी कहा गया है कि ईश्वर ने इसे पृथ्वी के गर्भ में छिपा कर रखा है, ताकि इससे प्रदूषण न फैले। परंतु आज हम उसी पूरीष्याग्नि को खोद–खोद कर निकाल रहे हैं। उसका प्रयोग कर रहे हैं। इनसे भारी प्रदूषण हो रहा है। वैदिक ग्रंथों में पृथ्वी के अंदर की भूगर्भीय ऊर्जा जिसे आज जियोथर्मल एनर्जी कहा जाता है, का भी उल्लेख है। वेदों का कहना है कि हम उस ऊर्जा का प्रयोग करें। हम जो गोमेध, अश्वमेध आदि यज्ञों के बारे में सुनते हैं, वे वास्तव में इन्हीं ऊर्जा स्रोतों का विकास करने के संबंधित हैं।

आज माना जाता है कि हवन में गाय को काट कर बलि चढ़ाना ही गोमेध है, घोड़े को काट कर बलि चढ़ाना अश्वमेध है और मनुष्य की बलि चढ़ाना नरमेध है। वास्तव में यह भ्रम हमारी तकनीकी शब्दावली को न समझने के कारण है। वहाँ गौ का अर्थ है पृथ्वी। पृथ्वी की भूगर्भीय ऊर्जा का संचयन करना ही गोमेध है। कृषि के लिए पृथ्वी को तैयार करना भी गोमेध है। इसी प्रकार अश्व का अर्थ होता है सूर्य। सूर्य की किरणों के उपयोग से सौर ऊर्जा का संचयन ही अश्वमेध है। क्या हम वेदों में वर्णित इन ऊर्जा स्रोतों का उपयोग करेंगे तो हम पिछड़े बन जाएंगे? ऐसा नहीं है। ज्ञान और विज्ञान व्यक्ति को पिछड़ा नहीं बनाता, वह उसे आगे बढने में सहायता देता है।

आयुर्वेद में हमने वात, पित्त और कफ की बात की। इसमें अवैज्ञानिक क्या है? आज एलोपैथिक चिकित्सा को मुख्य और आयुर्वेद को वैकल्पिक चिकित्सा कहा जाता है। आयुर्वेद वैकल्पिक कैसे हो सकता है? वह तो बिल्कुल प्रकृति के अनुसार है। वात कहते हैं वायु को, पित्त कहते हैं अग्नि को और कफ कहते हैं जल को। इन सबसे ही यह ब्रह्माण्ड बना है। ऋषि कहता है कि ब्रह्म तत्व से आकाश तत्व की सृष्टि होती है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी बनती है। आकाश स्थान का काम दे रहा है और पृथ्वी आधार बनी हुई है तो शेष तीन तत्व वायु, अग्नि और जल ही ब्रह्माण्ड में सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

वायु की कमी और अधिकता से ब्रह्माण्ड में क्या–क्या होता है? शरीर में भी उसकी कमी और अधिकता से समस्याएँ पैदा होती हैं। इसी प्रकार अग्नि और जल की कमी और अधिकता से ब्रह्माण्ड में हम उथल–पुथल होते देख सकते हैं। शरीर में भी इनकी अधिकता और कमी से समस्याएँ होती हैं। हमारे यहाँ ऋषियों ने कहा कि ब्रह्माण्ड में भी वायु, अग्नि और जल का संतुलन चाहिए होता है और उसी प्रकार शरीर में भी वात, पित्त और कफ का संतुलन चाहिए होता है। इस संतुलन से ही प्रकृति और शरीर दोनों ठीक रहेंगे। जीवेम् शरदः शतम् की कल्पना दवाइयाँ खाने से तो पूरी होगी नहीं। प्रकृति के अनुरूप जीवन जीने से ही होगी। एक प्रसिद्ध वैदिक विद्वान हुए हैं, पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर। वे ड्राइंग के शिक्षक थे और उसमें उनके योगदान के लिए उन्हें पद्मश्री मिला। सेवानिवृत्ति के बाद उन्होंने संस्कृत और वेदों का अध्ययन करना प्रारंभ किया। उन्होंने कहा कि यदि वेद ज्ञान–विज्ञान के ग्रंथ हैं और सत्य हैं तो

वैदिक जीवन जीने पर मेरी आयु सौ वर्ष की होनी चाहिए। उन्होंने वैदिक पद्धति से ही जीवन जीए। वेदों पर उनके काम के लिए भी उन्हें पद्मभूषण का सम्मान प्राप्त हुआ और वे 118 वर्ष की आयु तक जीए।

तात्पर्य यह है कि वैदिक पद्धति से जीवन जीने से हम शतायु हो सकते हैं। आज की अवस्था क्या है? कहा जाता है कि दुनिया का सबसे युवा देश हम हैं। क्यों हैं, क्योंकि हम अधिक आयु तक जी ही नहीं पाते। अधिक आयु तक नहीं जा पाते क्योंकि हमने अपनी उस परंपरा को छोड़ दिया। यदि विज्ञान और तकनीकी है तो हमें लंबी आयु जीना चाहिए, स्वस्थ रहना चाहिए। क्या ऐसा हो पा रहा है? वर्ष 1881 में अंग्रेजों ने पहली जनगणना की। उसमें उन्होंने पाया कि भारत के पाँच लोगों में से चार लोग स्वस्थ हैं, केवल एक व्यक्ति बीमार है। आज हमने चिकित्साशास्त्र में बड़ी प्रगति की है, एम्स आदि बड़े–बड़े अस्पताल खोले हैं, परंतु आयुर्विज्ञान की दृष्टि से कहा जाये तो एक भी व्यक्ति इस देश में आज स्वस्थ नहीं है, जो दवाई न खाता हो। एलोपैथी की दृष्टि से कहा जाये तो पाँच में से एक व्यक्ति स्वस्थ हो सकता है, चार तो उसमें भी बीमार हैं। यदि हम उन्नीसवीं शताब्दी से और पीछे चले जाये तो कोई व्यक्ति बीमार ही नहीं पड़ता था।

आयुर्वेद का लक्ष्य है ''स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्, आतुरस्य रोगनिदानम्'' यानी स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा और बीमार व्यक्ति के रोग निदान करना। एलोपैथी तो पहले व्यक्ति के बीमार पड़ने का इंतजार करता है। यह लक्ष्य का अंतर है। दुःख की बात यह है कि आज कुछ मापदंड़ बना दिए गए हैं और ये मापदंड़ अमेरिका आदि देशों के द्वारा बनाए गए हैं। एक मापदंड़ बनाया गया है कि कौन अमीर देश हैं और कौन गरीब। उन्होंने इसके लिए मापदंड़ निश्चित किया है लोगों की बचत जमापूँजी को। जिसके पास अधिक बचत जमापूँजी है, वह देश अमीर है और जिसके पास कम है वह गरीब देश है। अगर हम यह मापदंड़ बदल कर यह कर दें कि जिन देशों के पास सर्वाधिक प्राकृतिक संसाधन हैं, वे अमीर और जिनके पास कम हैं, वे गरीब तो क्या होगा? तो फिर आज के गरीब देश अमीर हो जायेंगे। गलत मापदंड़ पर अमीरी का प्रमाणपत्र लेने के बाद इसके आधार पर गरीब निर्धारित किए गए देशों पर दबाव डाला जाता है कि वे अपनी मुद्रा की विनिमय दर कम करें। इससे उनके प्राकृतिक संसाधन कम से कम मूल्य में उनको मिल सके और उनके उत्पाद अधिक से अधिक दामों में बिकें। यह सब केवल एक छलावा है।

हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उन्नीसवीं शताब्दी में टॉयनबी लिखता है कि भारत एक ऐसा देश है जिसमें पिछले पाँच हजार वर्षों से दुनिया भर से सोना चाँदी आ रहा है, बाहर जाता ही नहीं है। हम तो पूरी दुनिया को सामानों की आपूर्ति करते थे, उनके सोने–चाँदी के बदले में हमारे वस्त्र, वस्तुएँ, गरम मसाले आदि जाते थे। ऐसे देश में एकदम से ऐसा अकाल आ गया, यहाँ विज्ञान भी समाप्त हो गया, सारी चीजें नष्ट हो गईं, ऐसा कैसे हुआ? इसे समझने के लिए भारतीय ज्ञान–विज्ञान की परंपरा पर विमर्श आवश्यक है और केवल विमर्श करने की नहीं, बल्कि उस पर काम करने की आवश्यकता है। आप आज गाँवों के अनपढ़ लोगों को भी देखें तो उनके पास परंपरा से बहुत सारा ज्ञान–विज्ञान है। परंतु वे अनपढ़ हैं, इसलिए वह क्वालीफाइड नहीं है। आज आवश्यकता है कि ऐसे परंपरा से विद्वान लोगों के ज्ञान को संग्रहित कर उनका

मापदंड़ीकरण कर दिया जाए। उन्हें सम्मान और धन दें तो यह ज्ञान–विज्ञान की परंपरा फिर से देश का कल्याण कर सकती है। यह ज्ञान–विज्ञान काफी सस्ता भी है। एलोपैथी के चिकित्सक रोग का पता लगाने के लिए मँहगी–मँहगी जाँच करते हैं। एक गरीब आदमी कैसे अपना इलाज करवाएगा? दूसरी ओर आयुर्वेद का वैद्य नाड़ी देख कर ही रोग बता देता है। इससे सस्ता इलाज क्या हो सकता है?

हमारे देश की जो स्थितियाँ हैं, हमें उसके अनुसार तकनीकी और विज्ञान चाहिए। यहाँ यूरोप के तरीके लागू करने की आवश्यकता नहीं है। हमें अपनी परंपरा और स्थिति पर लज्जित होने की भी आवश्यकता नहीं है परंतु हमारे यहाँ जनसंख्या और परिस्थितियाँ अलग हैं और उनका निवारण हमें अपने तरीके से ही करना होगा। उसके लिए हमें अपने परंपरागत ज्ञान–विज्ञान पर ही काम करना होगा। लघु और कुटीर उद्योग ही हमारी परंपरा थी, उससे ही हमने विकास किया था। आज भी हम उससे ही विकास कर सकते हैं।

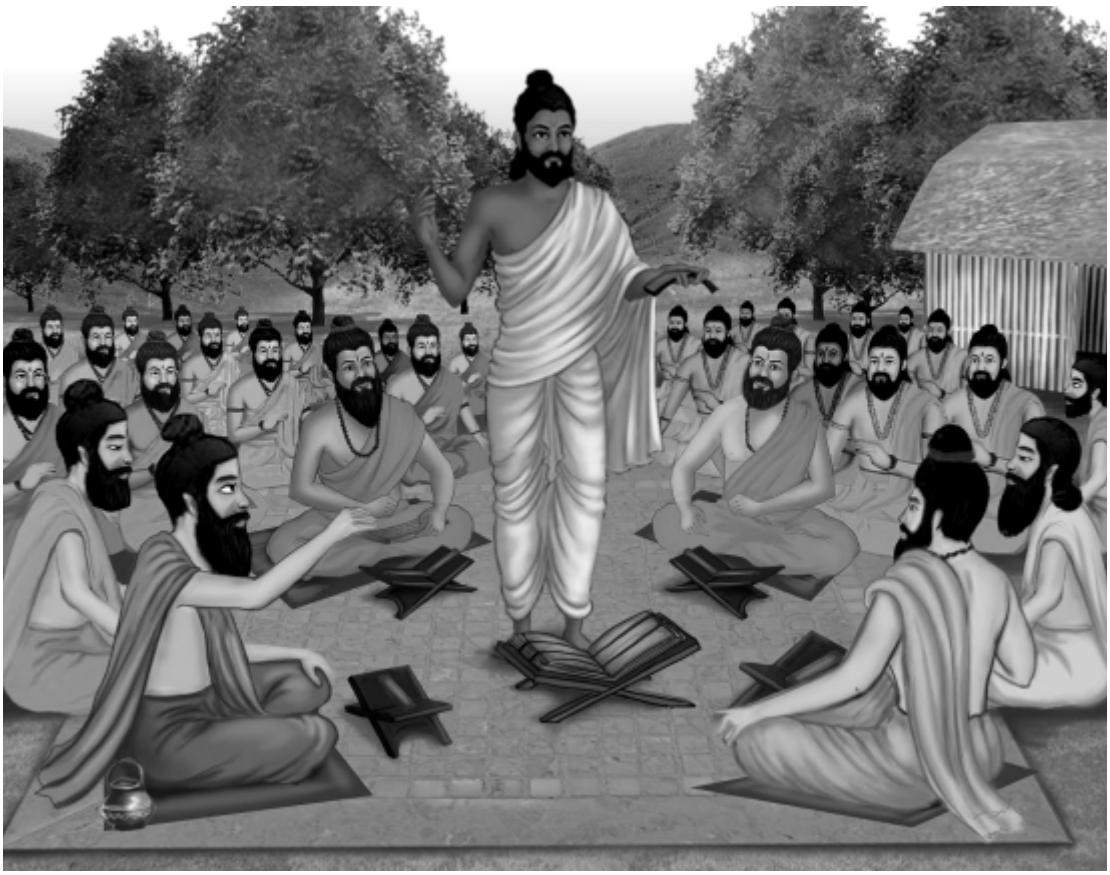

वैदिक कालीन भारत की वस्त्र परंपरा

• जयप्रकाश परिहार

यह कहना कठिन है कि आदिम युग में भारतीयों की वेश–भूषा क्या थी। हमें अभी तक की खोजों से यह पता नहीं लगा है कि वे कपड़े पहनते थे अथवा नहीं और अगर कपड़े पहनते थे, तो वे चमड़े के बने होते थे अथवा पत्तियों और छालों के। प्रागैतिहासिक गुफा–चित्रों से तो यही पता चलता है कि उस युग के लोग प्रायः नग्न रहते थे। धीरे–धीरे जब सभ्यता ने आगे कदम बढ़ाया, तब समाज तो वस्त्रों का आदी हो गया, वैदिक और बाद के साहित्यों में आये वल्कल और तृणों के वस्त्र भी उसी आदि सभ्यता की ओर संकेत करते हैं। बात यह है कि पूरा समाज एक साथ ही उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं होता, उसका कुछ भाग हमेशा पीछे रह जाता है और प्राचीनता को निभाये चलता है। इन्हीं पिछड़े लोगों के विश्वासों और आदतों से हम बहुत प्राचीन काल की सभ्यता का चित्र खींच सकते है। सबसे पहले हमें भारतीय वेशभूषा का पता सिंधु घाटी से मिली प्रागैतिहासिक सभ्यता से मिलता है। मोहन जोदाडो और हड़प्पा की यह सभ्यता 3500 60 ई.पू. से लेकर 1500 ई.पू. तक फली–फूली और इसका संबंध मध्य पूर्व की सभ्यताओं से था। भौतिक सभ्यता के काफी आगे बढ़ने पर भी लोगों में कपड़े पहनने का प्रचलन कम था। एक वस्त्र के टुकड़े के वैज्ञानिक अध्ययन से पता चलता है कि लोग कपास से अवगत थे। इससे इस बात की भी पुष्टि हो जाती है कि बाबुली भाषा का सिंधु और यूनानी भाषा का

सिकोन व शब्द सिंधु वेश के बने कपास के कपड़े के लिए ही थे। इस तरह कपास से कपड़े बनाने का श्रेय सब से पहले इसी देश को मिलता है। प्रत्येक देश, काल और समाज के सांस्कृतिक मूल्यांकन के प्राथमिक आधार उसके नित्य–प्रति उपयोगी उपकरण होते है। ये उपकरण तत्कालीन समाज की परिस्थितियों व अवस्थाओं के अनुकूल गढ़े जाते है, जिनमें समाज अपने समग्र रूप में प्रतिबिंबित होता है। इसलिए इन उपकरणों (कलाकृत्यों) को समाज का दर्पण और सभ्यता का मापदंड माना जाता है। ये उपकरण उनके बर्तन–भाड़े, वस्त्राभूषण, वसति और शयनासन, आयुभ और वाहन आदि होते हैं। ये उपकरण निश्चय ही दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं इसलिए इनका उपयोगितावादी महत्व होता है, लेकिन जब इन उपकरणों को अधिक से अधिक सुंदर बनाने की चाह में विभिन्न आकर्षक रूपों में ढाला जाता है, रेखांकन, चित्रण या उकेरण आदि शिल्प–कर्म से अलंकृत कर उनमें सौंदर्य का आदान किया जाता है, तब वे केवल उपयोगितावादी ही नहीं रह जाते, अपितु मानव को सौंदर्य पिपासा को संतुष्टि प्रदान करने का दायित्व भी वहन करते है। उपयोगिता में सौंदर्य की सृष्टि का प्रयास ही कला है। उपयोगिता और कलात्मकता एक दूसरे से अविनाभाव से संलग्न है। सौंदर्य की यह रचना सौंदर्य–संतृप्ति और आनंद प्रदान कर मानव के व्यक्तित्व को पूर्ण बनाती है, उसकी आत्मा का संस्कार करती है और जीवन के प्रति एक अभिनव दृष्टि प्रदान करती है। सौंदर्य की साधना ही किसी समाज की संस्कृति के रूप में मान्यता प्राप्त करती है। यह सौंदर्य की साधना वस्तुगत रूप में कला है और शब्दगत रूप में काव्य या साहित्य। दोनों का लक्ष्य एक ही है सौंदर्यान्वेषण। अतः संस्कृति और साहित्य में अन्योन्याश्रित सबंध है, वे एक दूसरे के पूरक है। इन दोनों का जन्म प्रायः साथ ही साथ पाया गया है।

साहित्य में सांस्कृतिक तत्वों का समावेश और संस्कृति पर साहित्य का प्रभाव सदैव परिलक्षित मिलता है। ये एक दूसरे को भाषित–प्रतिभाषित करते हुए चलते हैं। इस दृष्टि से वैदिक साहित्य वैदिक कालीन संस्कृक्ति के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण उपादान है। वैदिक साहित्य भारतीय सभ्यता के एक हज़ार वर्षों से अधिक विकास के इतिहास का भण्डार है। लेकिन उसमें जो कुछ आया है उसे हम एक ही काल में नहीं ढूंढ़ सकते, उसमें ऐतिहासिक विकास की परंपरा दिखलाने के लिए हमें काल विभाजन का सहारा तो लेना ही होगा। जहाँ तक वस्त्र–भूषा का संबंध है हमारी कठिनाई कुछ इसलिए सरल हो जाती है कि संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में आनुषंगिक रूप से वस्त्रों की जो भी चर्चा आई है उसमें एकता है जिससे यह पता चलता है कि जहाँ तक वस्त्रों का संबंध है वैदिक काल मे करीब 800 वर्षों तक विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इतिहास में बहुधा यह देखा गया है कि किसी नवीन सभ्यता के सम्पर्क में आने से अथवा उससे विजित होने पर विजित सभ्यता विजेताओं के वस्त्र ग्रहण कर लेती थी। वैदिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि न तो वे बाहरी किसी शक्ति से विजित हुए न उनके विशेष संपर्क में आये। इसीलिए उनके अपने वस्त्र जिनमें उन्होंने देश काल के अनुसार सुधार भी कर लिये होंगे, ज्यों के त्यों बने रहें। वस्त्रभूषा की इस एकता को देखते हुए हमने संपूर्ण वैदिक युग को एक ही माना है और इसके काल विभाजन नहीं किये हैं। सूत्र युग में जिसका आरंभ करीब 500 ई. पू. से होता है। हमें नये वस्त्रों के नाम मिलने लगते हैं और इसीलिए हमने इस सूत्र युग की वेश–भूषा का वर्णन महाजनपद युग की वेश–भूषा के अंतर्गत

किया है। जान पड़ता है कि आर्य भारतवर्ष में और पश्चिमी एशिया में एक साथ प्रविष्ट हुए और ईरानी और भारतीय आर्य करीब 2500 ई. पू. में अलग हुए। भारतीय आर्यों ने इस देश में 2000 ई. पू. और 1400 के बीच अफगानिस्तान और हिंदूकुश के रास्ते से होकर प्रवेश किया और सबसे पहले सिंध नदी की उपरिली घाटी में बसे। बाद में उन्होंने धीरे–धीरे आगे बढ़ते हुए गंगा की घाटी में भू–स्थापना की और अंत मे विंध्यक्षेत्र और सुदूर दक्षिण में फैल गये। पशु पालन और कृषि इनके प्रधान व्यवसाय थे और आरंभिक काल में वे गाँवो में रहते थे। गृह निर्माण, बढ़ई गिरी और रथ बनाने की कला में वे पटु थे। अयस के बर्तन बना सकते थे और सोने और गहनों के उपयोग वे करते थे। वे कपड़े भी बुन सकते थे। सीने–पिरोने, चमड़े कमाने और मिट्टी के बर्तन बनाने की कलाओं से भी वे परिचित थे।

हमें वैदिक काल (1500–800 ईसा पूर्व) से परिधान की सामग्रियों और शैलियों के उद्धरण मिलते हैं जो प्राचीन भारत के वस्त्र इतिहास के विकास को इंगित करते हैं। ऋग्वेद में बुनकर को वासोवाय के रूप में वर्णित किया गया है। पुरुष बुनकर को वय कहा जाता था जबकि महिला बुनकर को वयित्री कहा जाता था। ऋग्वेद में मुख्य रूप से दो परिधान, वास अथवा निचला परिधान और अधिवास अथवा ऊपरी परिधान का उल्लेख है। उत्तरकालीन संहिताओं में निवी अथवा अंतर्वस्त्र शब्द का भी उपयोग किया गया है। अत्क एक बुने हुए और सही नाप के बने हुए परिधान के रूप में वर्णित किया गया है। प्रायः आवरण वस्त्र तथा चोगे का उल्लेख सत्ताधारियों को इंगित करने के लिए किया गया है। कढ़ाई के भी उद्धरण वैदिक ग्रंथों में पेशस् के रूप में प्रकट होते हैं, जो नर्तकियों द्वारा उपयोग किया जाने वाला कढ़ा हुआ वस्त्र प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि अच्छे परिधान पहनकर तैयार होना सामान्य रिवाज़ था और इसे सुवास और सुवासना 'सुसज्जित' जैसे शब्दों से समझा जा सकता है। परिधान विभिन्न रंगों के होते थे और इतिहास में इस समय तक, कपड़ों का उपयोग बहुत दृढ़ता से स्थापित हो गया था और ऋग्वेद में कपड़ों के रूपकों का उपयोग भी बहुत बार होता है।

इंद्र को समर्पित एक भजन में, स्तुतियों और भजनों की तुलना सुरुचिपूर्ण रूप से निर्मित परिधानों अथवा वस्त्रेवभद्र सुकृता से की जाती है, जिसका अभिप्राय है सम्मानपूर्ण उपहार के रूप में ग्रहण करने योग्य। ऊर्णा सूत्र (ऊनी धागा) का उत्तरकालीन संहिताओं और ब्राह्मणों में लगातार उल्लेख किया गया है। आर्य कातने और बुनने के लिए भेड़ों का ऊन व्यवहार में लाते थे और इसीलिए भेड़ को वे ऊर्णावती कहते थे और ऊन को आविक। सिंधु घाटी को सुवासा ऊर्णावती इसलिए कहा गया है कि वहाँ ऊन और ऊनी कपड़े बहुतायत से मिलते थे। गंधार की भेड़ें प्रसिद्ध थी और जिस प्रदेश से रावी (परुष्णी) बहती थी वहाँ का रंगीन अथवा घुला हुआ (सुन्ध्यवः) ऊनी कपड़ा प्रसिद्ध था। पूषण द्वारा ऊनी कपड़े बुनने का भी उल्लेख है। ऊर्णा भेड़ के ऊन और बकरी के बाल को निर्दिष्ट करता है।

उत्तरकालीन वैदिक काल के परिधानों में भी निवी, वास और अधिवास सम्मिलित हैं। इस अवधि में रेशम और ऊन का उपयोग शतपथ ब्राह्मण से स्पष्ट हो जाता है, जो बलि के परिधानों का वर्णन करता है जिसमें रेशम का अंतर्वस्त्र (तैप्या), एक बिना रंगा हुआ ऊन का परिधान और पगड़ी सम्मिलित हैं। 'ताना' और 'बाना' शब्दों का बार–बार उपयोग, बुनाई की कला में इस अवधि तक हुए विकास को दर्शाता है। छपाई वाले (मुद्रित) कपड़े का सबसे पहला

उदाहरण वैदिक युग के आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के चित्रंत शब्द से मिलता है। यज्ञोपवीत, ब्राह्मणों द्वारा पहना जाने वाला पवित्र धागा, कपास के सूत से बनाया जाता था। जानवरों की खालों का भी वस्त्ररूप में व्यवहार होता था। देवता, मुनि, व्रात्य और देश के आदि निवासी खालों से बने कपड़े पहनते थे। इस संबंध में शतपथ ब्राह्मण में एक कहानी दी हुई है जिससे पता चलता है कि वैदिक सभ्यता के आरंभिक युग में आर्य चर्म पहना करते थे। इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिस समय सभ्यता शिकारी अथवा पशुपालक अवस्था में थी उस समय मनुष्य पशुओं के चमड़ों से अपने बदन ढंका करते थे। वैदिक काल के बाद, वस्त्र के लिए प्रयोग किए जाने वाले कपड़ों की प्रकृति अथवा स्रोत के संबंध में, दो अलग–अलग पद्धतियाँ स्थापित हुईं। पशु बलि के वैदिक मत का अनुसरण करने वालों ने खाल को कपड़ों का प्रमुख स्रोत माना, जबकि अन्य विशेष रूप से बौद्ध और जैन मत के लोगों ने कपास को मुख्यता दी।

संस्कृत महाकाव्य, महाभारत में हिमालयी क्षेत्रों के सामंती राजकुमारों द्वारा युधिष्ठिर के लिए लाये गये उपहारों में, रेशमी कपड़ों का उल्लेख है। ऋग्वेद के बाद से बुनाई के कई उदाहरण पाये जाते हैं। पूर्वतर समय से ही महिला बुनकर हुआ करती थीं। महाभारत में छपाई वाले कपड़ों का भी उल्लेख है। छपाई वाले कपड़ों के लिए प्रयोग किया जाने वाला प्रचलित शब्द चित्र वस्त्र है। यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि भारत में कपड़ों पर छपाई भी की जाती थी। महाभारत में, 'मणि चीर' का उदाहरण है, जो संभवतः दक्षिण भारतीय कपड़ा था जिसकी किनारियों पर मोतियों को बुना जाता था। वाल्मीकि की रामायण के अनुसार, सीता के वधू साज–सामान में ऊनी कपड़े, पशुखाल के कपड़े, कीमती पत्थर, विविध रंगों के महीन रेशमी वस्त्र, राजसी और सजावटी तथा विभिन्न प्रकार के भव्य रथ सम्मिलित थे। महाकाव्यों, रामायण और महाभारत में घूँघट, चोली और शारीरिक कपड़ों का बार–बार उल्लेख किया गया है। शादी के समय दुल्हन के साथ– साथ दूल्हे द्वारा उपयोग किए जाने वाले ऊपरी और निचले परिधान, हंस रूपांकनों से सुसज्जित, रेशमी कपड़े के बने होते थे। रामायण में छपाई वाले कपड़ों के कई उदाहरण हैं। रावण के घर की स्त्रियाँ विभिन्न रंगों के परिधान पहनती थीं। छपाई वाले कालीन, छपाई वाले कंबल और छपाई वाले कपड़े उपहार के रूप में वितरित किये जाते थे। कौटिल्य द्वारा राजनीति पर रचित ग्रंथ, अर्थशास्त्र (चौथी शताब्दी ईसा पूर्व) में सूत कातने वालों और बुनकरों को सामग्री वितरित करने के तरीकों के विषय में चर्चा है, चाहे वे लोग श्रमिक शिल्पी संघ के सदस्य हों अथवा घर में निजी तौर पर कार्य करते हो। प्राचीर सुमेर में भी लोग सारगान के काल तक बकरे की खाल की बनी तहमत पहना करते थे। कंबल और शामुल्य स्त्रियों और पुरुषों के नित्य के पहिनने के वस्त्र थे। कंबल से शायद खुरदरे ऊनी कपड़े का तात्पर्य रहा हो। कंबल मुंडा–ख्मेर भाषा का शब्द है और वैदिक संस्कृत ने इस शब्द को उस भाषा से उधार लिया है। अथर्ववेद में सबसे पहले यह शब्द आने से यह धारणा होती है कि इस शब्द को आर्यों ने आदिवासियों से अधिक घनिष्टता बढ़ने पर अपना लिया। शामुल्य समूर का बना कपड़ा होता था। सिंधु प्रदेश में उनी और सुती दोनों प्रकार के वस्त्र तैयार किये जाते थे। कपास के इतने माहीन कपड़े चुने जाते थे, जो मलमल जैसे पतले होते थे। इस कपड़े से बने वस्त्र को धोम कहा जाता था। नाभि (नौवि) से नीचे पहने जानेवाले वस्त्रों को अधोवस्त्र या नौविष्काय जाता था, जिसे स्त्री–पुरुष दोनों पहनते थे स्विया विशेष रूप से पहनती थी। शरीर के धड़ भाग में पहने

जानेवाले सिले तथा अनसिले वस्त्रों को ऊर्ध्व वस्त्र, उपवाससु या अधिवासष् कहा जाता था। कंधों पर डालकर ऊपरी भाग पर ओढ़े जानेवाले दुपट्टे, चादर या शाल जैसे उत्तरीय वस्त्रों को द्रापे कहा जाता था। सिर पर पगड़ियों के बाँधने का प्रचलन था, जिन्हें गाणीय (शिप्र) कहा जाता था। पगडियाँ स्त्री व पुरुष दोनों बाँधते थे। पगड़ी का बाँधा जाना मर्यादा का सूचक था। यज्ञों में राजाओं व मुखियाओं के लिए पगड़ी बांधना राजमर्यादा के अनुसार अनिवार्य था। अवसर विशेष पर पहने जाने वाले वस्त्रों का भी उल्लेख प्राप्त है।

ऋग्वेद के विवाह सूक्त के अनुसार शामुल्य एक ऐसा उनी परिधान था जिसे संभवतः शादी के अवसर पर पहना जाता था। इसी प्रकार पेशस को नर्तकियाँ नृत्य के अवसर पर पहनती थी। पेशस कोई विशेष आकर्षक वस्त्र था, जिस पर बेलबूटे की कढ़ाई का काम होता था। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल पेशस का अर्थ आकृति–चित्रित मंच के परंदे (फिगर्ड ड्रेपरी) से लेते हैं। वाजसनेयि संहिता में पेशसकारी शब्द सोने–चाँदी के तारों से की गयी कारीगरी के लिए प्रयुक्त हुआ है। हिरण्य–अक्क हिरण्यमय–द्रापि से सोने की जरी के काम का वस्त्र अर्थ निकाला जाता है। निश्चित ही ये वस्त्र कलात्मकता के उदाहरण थे। वस्त्रों के प्रति आर्यों को इतनी गहरी अभिरुचि थी कि उनके वस्त्रों के किनारे भी दो प्रकार के सिच् और प्रघात होते थे। सिच् जैसा कि इस शब्द से ध्वनित होता है, सिले हुए किनारे का सूचक है और प्रघात कपड़े की चुनी हुई झालर या किनारी का सूचक है। कपड़ों की सिलाई भी की जाती थी। सिले हुए कपड़े स्यूत और बुने हुए कपड़े व्युत कहलाते थे। कपड़े बुनने का कार्य प्राय महिलाएँ करती थी। वैसे, कपड़ा बुनने का व्यवसाय तंतुवाय (जुलाहे) करते थे। रंगों के प्रति भी आर्यों का पर्याप्त लगाव था। उनके कपड़े रंग–बिरंगे होते थे।

वस्त्रों के रंगने के संबंध में वैदिक साहित्य में तीन शब्द मिले हैं रजनी, महारजन और रजयित्री। रजनी शब्द ऐसे पौधे या पौधे की किस्मों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिनसे रंग प्राप्त किया जा सकता था। रंगने का कार्य करने वाले कलाकार के लिए पुरुष वाचक नहीं, अपितु स्त्री वाचक शब्द रजयित्री (कपड़ा रंगने वाली) मिलता है। इससे दो बातें स्पष्ट होती है कि कपड़े रंगने का कार्य काफी विकसित था, क्योंकि कपड़े रंगने वाले अलग ही कलाकार होते थे, जिनका नामकरण हो चुका था। दूसरी बात, कपड़ा रंगने का कार्य प्रायः स्त्रियां करती थीं। वैसे, कपड़े रंगने का कार्य पुरुष भी करते होंगे लेकिन इस कार्य क्षेत्र पर महिलाओं का ही अधिकार था। महिलाओं को रंग के बारे में स्वभावतः अधिक परख और दक्षता प्राप्त होती है। महारजन शब्द का अर्थ केसर के रंग (केसरिया) में रंगा वस्त्र है। जब किसी विशेष रंग का उल्लेख मिलता है तब स्पष्ट है कि वस्त्र अन्य रंगों में भी रंगे जाते होंगे। जहाँ तक रंगों का प्रश्न है, बहुत से ऐसे उल्लेख प्राप्त हैं जिनसे ज्ञात होता है कि आर्यों को अनेकानेक रंगों का गहरा ज्ञान था और वे उनके मनोवैज्ञानिक प्रभावों से भी भलीभाँति परिचित थे। वस्त्रों को आकर्षक बनाने के लिए उन पर रंगों से अलंकरण व चित्रकारी की जाती थी। इसका उदाहरण ऋग्वेद का वह मंत्र है जिसमें चमड़े के ऊपर अग्निदेव के चित्र बनाये जाने का उल्लेख है। यह चित्र अग्निदेव का है इसलिए विशेष उल्लेख के कारण हमें प्राप्त है। वैसे, इसी प्रकार के चित्र, आकृतियाँ, अलंकरण व डिजाइनें वस्त्रों पर चित्रित की जाती रही होगीं। पेशस भी ऐसा ही स्वर्ण तारों से बना, कढ़ाई किया गया, अलंकरणयुक्त वस्त्र है। मानव सभ्यता को कपास की खेती तथा उनसे निर्मित सूती

वस्त्र भी भारत की ही देन है। सिंधु सभ्यता के अवशेषों में चाँदी के गमले में कपास, करघना तथा सूत कातना और बुनती का पाया जाना इस कला की पूरी कहानी दर्शाता है। वैदिक साहित्य में भी सूत कातने तथा अन्य प्रकार के साधनों के प्रयोग के उल्लेख मिलते हैं। युरोपीय लोगों को कपास की जानकारी ईसा से 350 वर्ष पूर्व सिकंदर महान् के सैनिकों के माध्यम से हुई थी, तब तक युरोप के लोग जानवरों की खालों से तन ढ़ाँकते थे। कपास का नाम भी भारत से ही विश्व की अन्य भाषाओं में प्रचलित हुआ, जैसे कि संस्कृत में कर्पस, हिन्दी में कपास, हिब्रू में कापस, यूनानी तथा लेटिन भाषा में कार्पोसस। इसलिए यह कहना कि हर तरह के परिधानों का आविष्कार भारत में ही हुआ।

वैदिक कालीन अनेक ग्रंथों में वनस्पतियों के रेशों से बने वस्त्रों का उल्लेख आता है। बरासी का उल्लेख सबसे पहले काठक संहिता में आया है। आश्वलायन श्रौत सूत्र और लाट्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार बरासी वस्त्र सोमयाग में भाग लेने वाले नेष्ट्रि को दक्षिणा के रूप में दिया जाता था। लाट्यायन श्रौत सूत्र के टीकाकार को इस शब्द का ठीक–ठीक अर्थ का पता नहीं था और इसीलिए उसने बरासी को क्षौम्य अर्थात् अतसी की छाल के रेशे का बना वस्त्र कहा है। आश्वलायन श्रौत सूत्र के टीकाकार ने बरासी का अर्थ मोटे सूत का कपड़ा किया है। उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत और हिमालय के बहिगिरि पर उगने वाले बरस (एक प्रकार के लाल फूल वाले वृक्ष की छाल के रेशे) से शायद यह वस्त्र बुना जाता था। दूर्श नामक इस कपड़े का उल्लेख अथर्ववेद में आया है। पालि साहित्य में भी दुस्स नाम के कपड़े का उल्लेख आया है। आज दिन घुस्सा जो दूर्श से निकला है एक तरह की खरदरी ऊनी चादर का नाम है जो पंजाब और कश्मीर में बनती है, पर यह ठीक तौर से नहीं कहा जा सकता कि वैदिक युग में दूर्श का क्या रूप था। क्षुमा अथवा अतसी की छाल के रेशे से बने हुए वस्त्र का सर्वप्रथम उल्लेख मैत्रायणी संहिता और तैत्तिरीय संहिता में आया है। कुसमी रंग के क्षौम परिधान का उल्लेख शाङ्खायन आरण्यकरे में आया है। आश्वलायन श्रौत सूत्र के अनुसार क्षौम वस्त्र सोमयाग में नेष्ट्रि को दक्षिणा रूप में दिया जाता था। शतपथ ब्राह्मण और मैत्रायणी संहिता के अनुसार पांड्व वस्त्र यज्ञ के समय राजाओं द्वारा पहना जाता था। बृहदारण्यक उपनिषद् में पांड्वाविक वस्त्र का उल्लेख है। यह भेड़ के ऊन का बना हुआ सफेद वस्त्र होता था। पांड्व, कोरव अथवा रंगीन रेशमी तथा सूती वस्त्र था।

तार्ण्य का उल्लेख अथर्ववेद तथा और कई जगह आया है। कृष्ण यजुर्वेद के अनुसार यज्ञ के अवसर पर यजमान को स्वयं तार्ण्य पहनना पड़ता था। राजसूय यज्ञ के अवसर पर राजा ताप्यै वस्त्र जिस पर यज्ञ के उपादानों के रूप कढ़े या टंके होते थे पहनता था। सायण और कात्यायन ने तार्ण्य के बहुत से अर्थ दिये हैं। यथा क्षौम, घी में डूबा वस्त्र, तूप नाम की घास से बना हुआ, अथवा तीन बार घृत में डुबोया हुआ वस्त्र इत्यादि। यह किसी तरह का अधोवस्त्र था। वैदिक युग में कपड़ों पर बहुधा कसीदे का काम होता था। कपड़ों में किनारे और झालरें भी होती थीं। सिच् शब्द से कसीदा किये हुए किनारे या झालर का बोध होता है। दो ऊपर नीचे के और दो बगल के किनारों का उल्लेख आया है। वैदिक आरोकाः से शायद कपड़े पर बने अलंकारों से मतलब है। आरोकाः की व्युत्पत्ति तामिल अरुकणि से है जिसके अर्थ होते है कपड़ों के अलंकृत किनारे। यज्ञ के अवसर पर कोरे कपड़े पहने जाते थे पर अन्य अवसरों पर धुले

कपड़े। अथर्ववेद में आया है, राजा यज्ञादि अवसरों पर धोती, चादर और पगड़ी पहनते थे। कभी–कभी स्त्रियाँ भी पगड़ी पहनतीं थीं। पगड़ी की जगह कभी–कभी पट्टियों से काम चल जाता था। यज्ञ के अवसर पर शुद्ध अनाहत वस्त्र पहने जाते थे। लोगों का विश्वास था कि बाने में अग्नि, ताने में वायु, नीवि में पितृ, प्रघात में नाग, सूत में विश्वेदेवा तथा आरोक में नक्षत्रों का अधिकार है। इस विश्वास से शायद यह मतलब हो कि वस्त्र की पवित्रता से उसमें भूत प्रेत नहीं घुस सकते थे न उस में जादू टोना लग सकता था। महाजानपद युग, शैशु नागों और नंदों में भारतीय सभ्यता और आगे बढ़ी। इस युग के इतिहास की सामग्री हमें जैन सूत्रों, बौद्ध पिटकों और ब्राह्मण सूत्र ग्रंथों में मिलती है। इस युग की आर्य सभ्यता ग्रामों से निकल कर नगरों में पहुँच चुकी थी और देश का कला–कौशल काफ़ी आगे बढ़ चुका था। कपास, क्षौम, रेशम और ऊनी कपड़ों का काफी चलन था। जातकों में सुईकार (पेसकार), बेंत बिनने वालों (नेलकार) और बुनकर (तंतुवाय) के व्यवसायों को नीचकर्म कहा है। उपरोक्त भाव बौद्धों के नहीं हो सकते, क्योंकि बुद्ध तो जात–पात मानते ही न थे, लगता है कहानियों में जाति–पाति की भावना वैदिक समाज की वर्ण व्यवस्था की द्योतक है। जैन सूत्र तो दरजियों, बुनकरों इत्यादि को शिल्पाचार्यों की श्रेणी में रखते है। प्राकृतिक जीवन के सिद्धांत को देखा जाए तो पोशाक के संबंध में हमारे भारतीय मनीषियों को इसकी गहरी समझ थी। वे इसके मनोविज्ञान को जानते थे। वे प्रकृति के इस नियम को जानते थे कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए वायु, सूर्य और प्रकाश का हमारी देह से जितना संपर्क होता रहे, उतना ही अच्छा है। वस्त्रों का इतिहास भारत में की सिंधु सभ्यता से है, जहाँ कपास घूमती, बुना रंगे हैं और था में पांचवीं वीं सहस्राब्दी ईसा पूर्व के लिए वापस चला जाता है। हड्डी, सुइयों और लकड़ी की तकली स्थल पर खुदाई में पता लगाया गया है। प्राचीन भारत में कपास उद्योग अच्छी तरह से विकसित किया गया था और कई विधियों में से आज तक जीवित है। प्राचीन यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने भारतीय कपास ऊन का सौन्दर्य के रूप में वर्णन किया गया कि उसने कहा है कि "भेड़ के बालों से बनें भारतीय सूती कपड़ों को इस उपमहाद्वीप के शुष्क, गर्म ग्रीष्मकाल के लिए अच्छी तरह से अनुकूलित किया जाता है।" महाकाव्य महाभारत में भगवान कृष्ण का द्रौपदी का चीरहरण करने वाला प्रसंग पर उसे एक अंतहीन साड़ी के रूप में परिवर्तित करते हैं। प्राचीन भारतीय कपड़ों का चित्रण अजंता व एलोरा मूर्तियों की और चित्रों में बहुत ही बेहतर ढंग से प्रतीत होता है। पहली शताब्दी ईसा पूर्व यूनानियों के साथ सांस्कृतिक आदान–प्रदान से पता चलता है। इसके साथ ही इसमें भारत–यूनानी प्रभाव की गांधार कला को देखा जाता है। मौर्य और गुप्तकाल के दौरान बुद्ध को ग्रीक हिमतिओन्, पहनने के रूप में चित्रित किया था।

प्रत्येक देश, काल और समाज के सांस्कृतिक मूल्यांकन के प्राथमिक आधार उसके नित्य–प्रति उपयोगी उपकरण होते हैं। ये उपकरण तत्कालीन समाज की परिस्थितियों व अवस्थाओं के अनुकूल गढ़े जाते हैं, जिनमें समाज अपने समग्र रूप में प्रतिबिंबित होता है। इसलिए इन उपकरणों (कलाकृत्यों) को समाज का दर्पण और सभ्यता का मानदंड माना जाता है। ये उपकरण उनके बर्तन–भाड़े, वस्त्राभूषण, बसति और शयनासन, आयुध और वाहन आदि होते हैं। ये उपकरण निश्चय ही दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं इसलिए इनका उपयोगितावादी महत्व होता है, लेकिन जब इन उपकरणों को अधिक से अधिक सुंदर

बनाने की चाह में विभिन्न आकर्षक रूपों में बानाया जाता है, रेखांकन, चित्रण या उकेरण आदि शिल्प–कर्म से अलग कर उनमें सौंदर्य का आदान किया जाता है, तब वे केवल उपयोगितावादी ही नहीं रह जाते, अपितु मानव की सौंदर्य पिपासा को संतुष्टि प्रदान करने का दायित्व भी वहन करते हैं। उपयोगिता में सौंदर्य की सृष्टि का प्रयास ही कला है। उपयोगिता और कलात्मकता एक दूसरे से अविनाभाव से संलग्न है। सौंदर्य की यह रचना सौंदर्य–संतृप्ति और आदान–प्रदान कर मानव के व्यक्तित्व को पूर्ण बनाती है, उसकी आत्मा का संस्कार करती है और जीवन के प्रति एक अभिनव दृष्टि प्रदान करती है। सौंदर्य की साधना ही किसी समाज की संस्कृति के रूप में मान्यता प्राप्त करती है। यह सौंदर्य की साधना वस्तुगत रूप में कला है और शब्दगत रूप में काव्य या साहित्य। दोनों का लक्ष्य एक ही है सौंदर्यान्वेषण। अतः संस्कृति और साहित्य में अन्योन्याश्रित संबध है, वे एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों का जन्म प्रायः साथ ही साथ पाया गया है। साहित्य में सांस्कृतिक तत्वों का समावेश और संस्कृति पर साहित्य का प्रभाव सदैव परिलक्षित मिलता है। ये एक दूसरे को भाषित–प्रतिभाषित करते हुए चलते हैं। इस दृष्टि से वैदिक साहित्य, वैदिक कालीन संस्कृति के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण उपादान है।

संदर्भ ग्रंथ

- प्राचीन भारतीय वेशभूषा– डॉ.मोतीचंद्र
- वैदिक कालीन रूपांकर कलाएं– डॉ. जगदीश चंद्रिकेश
- महाभारत–वेदव्यास
- शतपथ ब्राह्मण
- बृहदारण्यक उपनिषद्

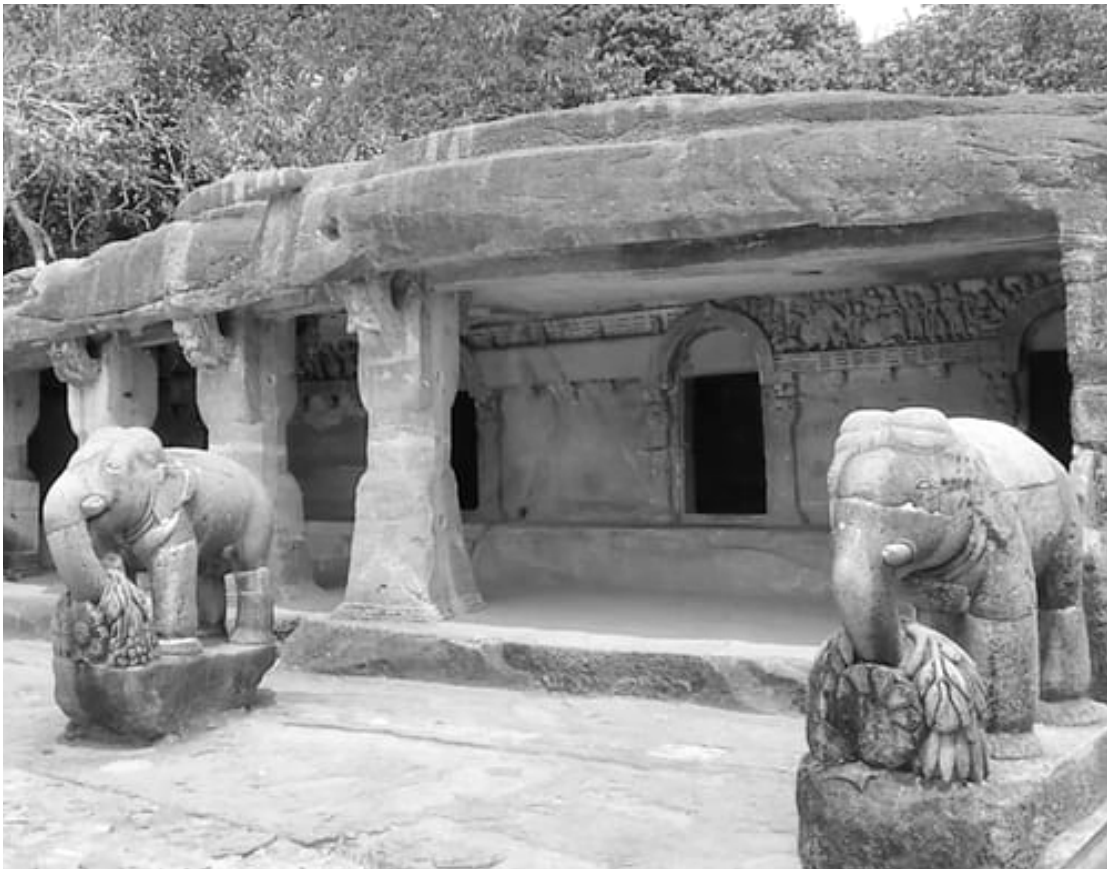

प्राचीन भारत का गुफा स्थापत्य

• रितु मिश्र

भारत का गुफा स्थापत्य एक अद्वितीय कला और स्थापत्य शैली है, जो देश के समृद्ध सांस्कृतिक इतिहास का महत्वपूर्ण हिस्सा है। ये गुफाएँ विभिन्न कालखंडों में बनाई गई थीं और इनमें प्रमुख रूप से धार्मिक, सांस्कृतिक और कलात्मक अभिव्यक्तियों का समावेश होता है। भारतीय गुफा स्थापत्य का इतिहास बहुत प्राचीन है। इनका निर्माण मुख्य रूप से धार्मिक उद्देश्यों के लिए किया गया था और ये बौद्ध, जैन और हिंदू धर्मों से संबंधित हैं। गुफा स्थापत्य की शुरुआत दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से मानी जाती है, जब मौर्यकाल में बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ रहा था। इस काल में पहाड़ों को काटकर गुफाओं का निर्माण किया गया, जो बौद्ध भिक्षुओं के निवास और ध्यान स्थल के रूप में उपयोग की जाती थीं।

भारतीय गुफा स्थापत्य में मुख्यतः पत्थरों को काटकर, तराशकर और खोदकर गुफाओं का निर्माण किया जाता था। इस प्रकार के निर्माण कार्य में अद्वितीय तकनीक और धैर्य की आवश्यकता होती थी। गुफाओं में सामान्यतः एक प्रमुख प्रकोष्ठ होता था, जिसमें भगवान की मूर्ति स्थापित की जाती थी। इसके अतिरिक्त गुफाओं में मंडप, स्तंभ और द्वारों की अलंकरण कला भी अद्वितीय थी। बौद्ध गुफाओं में चौत्यगृह (स्तूपों के साथ पूजा स्थल) और विहार (भिक्षुओं के रहने के स्थान) होते थे। वहीं, हिंदू गुफाओं में प्रमुख रूप से मंदिर, मंडप और गर्भगृह

होते थे, जो अत्यधिक अलंकृत होते थे। जैन गुफाएँ सरल लेकिन उत्कृष्ट मूर्तिकला और चित्रकला से सुसज्जित होती थीं। भारतीय गुफा स्थापत्य न केवल धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है, बल्कि यह भारतीय कला और स्थापत्य के विकास को भी दर्शाता है। यह स्थापत्य शैली न केवल उस समय की तकनीकी प्रगति का प्रमाण है, बल्कि समाज में कला और धर्म के स्थान को भी उजागर करती है।

हिन्दुस्तान के बाहर बलोचिस्तान, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश, बर्मा, इंडोनेशिया, थाईलैंड, मलेशिया, कंबोडिया और श्रीलंका में हिन्दू और बौद्ध धर्म से जुड़ी हजारों गुफाएँ आज भी मौजूद है। भारतीय गुफा स्थापत्य में मूर्तिकला और चित्रकला का विशेष महत्व रहा है। गुफाओं की दीवारों पर धार्मिक कथाओं और देवी–देवताओं की मूर्तियों के चित्रण किए गए हैं। अजंता और एलोरा गुफाओं की चित्रकला अपने यथार्थवाद और भावनात्मक अभिव्यक्ति के लिए जानी जाती है। ये चित्रकला और मूर्तिकला उस समय की समाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक धारणाओं का महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं।

मन्दिर मुख्यतम् धार्मिक वास्तु है जिसे हम भारतीय वास्तु की एकमात्र विभूति कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। उसमें हमें भारतीय वास्तुकला का उत्कृष्ट विकास देखने को मिलता है। इसका विकास भारत के किसी विशेष धर्म से नहीं वरन् मनुष्य में आकृति–पूजा की भावना से हुआ है। मनुष्य ने ईश्वर, देवता अथवा महापुरुष को उपासना के लिए जो मूर्ति अथवा लांछन बनाये, उन्हें उसने समय–क्रम के अनुसार पवित्र भवनों में स्थापित किया। ये भवन विभिन्न रूपों और आकारों में विकसित हुए। नाना रूपों में इनके विकसित होने का कारण है – सामग्री का उपयोग एवं धार्मिक भावना, कृत्य और विश्वास। इनके विकास का जो भी कारण रहा हो, यह निर्विवाद है कि भारत के सभी मतों और धर्मावलम्बियों ने इन्हें अपनाया है। मन्दिरों के उद्‌भव और विकास का इतिहास काफी ऊहापोह के बाद भी तिमिराच्छन्न ही है। वैदिक साहित्य में यद्यपि मूर्तियों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है तथापि अग्नि, इन्द्र, सविता, सूर्य, वरुण, विष्णु आदि देवताओं और अदिति, पृथ्वी, श्री, अम्बिका आदि देवियों की उपासना का उल्लेख हुआ है। इनका विकास चाहे प्रकृति की शक्तियों के मूर्तन के रूप में हुआ हो अथवा वे वीर–पूजा से विकसित हुए हों, जिस रूप में इनका वर्णन उपलब्ध है उनसे अनुमान होता है कि उनकी मूर्तियाँ किसी न किसी रूप में अवश्य बनायी जाती रही होंगी। कुछ विद्वानों ने वैदिक–काल में मूर्तियों के अस्तित्व के प्रति अपना विश्वास प्रकट किया है।

ऋग्वेद की एक ऋचा में 'मेरे इन्द्र को कौन मोल लेगा?' (क इमं दशभिर्मम इन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः) उल्लेख है। जिस प्रकार भारत के अभिलेखों में बोधि–वृक्ष और पादुका को बुद्ध (भगवतों) कहा गया है, उसी प्रकार सम्भव है यहाँ 'इन्द्र' से ऐसे ही किसी प्रतीक की ओर संकेत हो। किन्तु इतने ही से मूर्ति के अस्तित्व की कल्पना उचित नहीं जान पड़ती। सायण ने अग्नि का उल्लेख स्वर्णपुरुष के रूप में किया है। लोगों का अनुमान है कि यह मानव–आकृति उस सुवर्ण–टीकरे सरीखी रही होगी, जो लौरियानन्दगढ़ के उत्खनन में मिली थी और जिसके पृथ्वी के प्रतीक होने की कल्पना की जाती है। दक्षिणी पठार के पश्चिमी भाग में चालुक्यों के पश्चात् 753 ई. के लगभग राष्ट्रकूट नामक एक नये राजवंश ने अपना राज्य स्थापित किया और मालखेड को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के शासक पूर्ववर्ती शासकों की तरह वास्तुप्रेमी

तो न थे तथापि इस वंश के राजा कृष्ण द्वितीय (757–783 ई.) ने वैरूल (एलोरा) गुफा श्रृखंला के क्रम में एक ऐसे वास्तु का निर्माण कराया जिसकी गणना आज संसार की आश्चर्यजनक कृतियों में की जाती है। यह कृति कैलाश मन्दिर अथवा रंगनाथ के नाम से प्रख्यात है। इसका रूप वैरूल–श्रृंखला के समस्त गुफा मन्दिरों से सर्वधा भिन्न है। यह पर्वत कोरकर बनाया गया प्रस्तरविद्ध गुफा न होकर चालुक्य–शैली के चैत्य–मन्दिरों का प्रतिरूप है। उसे मूर्ति–निर्माण शैली में पर्वत को बाहर से काट और भीतर से कोर और गढ़कर रूपायित किया गया है। इस प्रकार के मन्दिर रूपायित करने का कार्य बहुत पहले मामल्ल ने मामल्लपुरम् में किया था और वहाँ उन्होंने इस ढंग के रथ बनवाये थे। मामल्लपुरम् के रथों का निर्माण समुद्रतट पर पड़ी उन्मुक्त चट्टानों को काट–काट कर किया गया था और वे छोटे आकार के हैं। राष्ट्र कूट–नरेश ने इस मन्दिर में इसी शैली का अनुकरण किया है किन्तु उसके मूर्तन का ढंग सर्वचा भिन्न और अनोखा है। वैरूल (एलोरा) में बौद्ध – लयणों के क्रम में ही ब्राह्मण धर्म से संबंधित गुफा हैं। वे बौद्ध तीनताल गुफा के उत्तर में हटकर आरम्भ होते हैं और वे सभी बदामी की गुफाओं के बाद के अर्थात् छठवीं सदी के अन्त और आठवीं सदी के प्रथम चरण के बीच बनी ऐसा अनुमान हैं। भू–योजना और वास्तु–विन्यास में वे औरंगाबाद तथा अजंता की परवर्ती गुफाओं से बहुत सादृश्य रखती हैं अतः समझा जाता है कि उनमें से अधिकांश सातवीं सदी के मध्य में बनी होगी। इन गुफाओं में दशावतार, रावण की खाई, रामेश्वर और सीता की कहानी विशेष उल्लेखनीय हैं।

भू–संयोजन की दृष्टि से ये गुफाएँ तीन प्रकार की हैं। पहली प्रकार की गुफा का उदाहरण दशावतार गुफा है। इसमें सामने की ओर चट्टानों को काटकर चौकोर आँगन का रूप दिया गया है। एलोरा के दूसरे प्रकार के ब्राह्मण लयण मूलतः उपर्युक्त ढंग के ही हैं। उनमें मुख्य अन्तर यह है कि गर्भ गृह के चारों ओर प्रदक्षिणा–पथ कटा है जिससे वह भी मण्डप का ही अंग बन गया है। इस ढंग की गुफाओं में रावण की खाई और रामेश्वर गुफा विशेष उल्लेखनीय है। मन्दिर के अगल–बगल परदे की तरह पर्वत की खड़ी दीवारें हैं और सामने की ओर भी एक दीवार है जिसमें से प्रवेश करने के लिए द्वार बनाया गया है। इस प्रकार मन्दिर एक प्राकृतिक प्राचीर से घिरा हुआ है। इस ढंग से पर्वत काटने की कल्पना अपने आप में अद्भुत है। अगल–बगल के पर्वतीय परदे पर विष्णु के अवतारों के चित्र उत्कीर्ण किये गये हैं और सामने के पर्दे पर दिग्पालों के चित्र उत्कीर्ण हैं। इस प्राचीर के भीतर खुली जगह के बीच कैलाश मन्दिर स्थित है अर्थात् मन्दिर के चारों ओर आँगन बनाने के लिए समूचे पर्वतांश को खोद डाला गया है, जो निश्चय ही नीरस और श्रमसाध्य काम रहा होगा और अकेले इस काम में असंख्य कारीगर लगे रहे होंगे। आँगन के बीच मन्दिर को चौड़ी जगह में शिख से नख तक खोदा और काटा गया है। यह मन्दिर चालुक्य–शैली में बना पापनाश मन्दिर की अनुकृति–सा है और एक बहुत ऊँचे जगतपीठ पर स्थित है, जिस पर सामने की ओर शिव–पार्वती सहित कैलाश पर्वत को उठाये हुए रावण का उच्चित्रण है। इस उच्चित्रण के कारण ही इसे कैलाश मन्दिर का नाम दिया गया है। इस जगत के चारों ओर की पट्टी में असंख्य सिंह और हाथी के दाँत उत्कीर्ण किए गये हैं जो जन्तु–जगत् की विविध भाव–भंगिमाओं को उनके स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करती हैं।

गुफा मन्दिरों का वास्तविक विकास बहुत पीछे दक्षिण भारत के पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशों

में देखने में आता है। पूर्वी तट पर इन लयों का बनना सातवीं सदी के प्रथम चरण में पल्लव नरेश प्रथम महेन्द्रवर्मन के समय (580–630) आरम्भ हुआ और वे कुछ काल तक उसके उत्तराधिकारियों के समय भी बनते रहे। ये गुफाएँ पल्लव और कुछ सीमा तक चोल प्रदेश तक ही सीमित हैं और इनको देखने से ऐसा जान पड़ता है कि वे एक प्रकार के प्रयोगमात्र थी। कदाचित् इस प्रकार की वास्तु–कला वहाँ के तक्षकों के लिए सर्वधा नवीन थी। ये गुफाएँ मात्र स्तम्भयुक्त मण्डप और गर्भ–गृह हैं। इनमें गर्भ गृह या तो मण्डप के पीछे है या उसकी बगल में। जिन गुफाओं में मण्डप उत्तर अथवा दक्षिणमुखी हैं उनमें गर्भ–गृह मण्डप की बगल में पूर्व अथवा पश्चिममुखी बनाया गया है। पश्चिमाभिमुख मण्डपों वाली गुफाओं में गर्भ– गृह पीछे की ओर है। किन्हीं किन्हीं गुफाओं में मण्डप, महामण्डप और अर्ध–मण्डप दो भागों में बँटे दिखायी पड़ते हैं। महामण्डप के सामने चार, छः अथवा आठ स्तम्भ और अर्थ–स्तम्भ की पाँत पायी जाती है। इनमें किनारे के दो अर्धस्तम्भ और शेष मन्दिर से अलग एक नन्दि–मण्डप है और आँगन में दो ध्वज स्तम्भ हैं। मन्दिर के पार्श्व में गुफा–परम्परा का एक स्वतन्त्र वास्तु है जो लंकेश्वर मन्दिर कहा जाता है। इसका सामना कैलाश–मन्दिर के आँगन के भीतर है जिसके कारण ही यह इस मन्दिर का अंग माना जाता है और समझा जाता है कि वह उसी काल में बना होगा। यह दुतल्ला मण्डप है, जिसका निचला ताल सामने है। उसके भीतर चौदह स्तम्भ हैं। दूसरे ताल में पहुँचने के लिए इसके बायें भाग में सोपान बना है। ऊपर वाला ताल पर भी चौकोर मण्डप है। उसमें चौरासी स्तम्भ हैं। इस मण्डप में शैव, शाक्त और वैष्णव मूर्तियाँ उत्खनित हैं। दाहिनी ओर की दीवार में रावणानुग्रह का दृश्य अंकित है। इसके स्तंभ भी देव– मूर्तियों से अलंकृत किये गये हैं। इस प्रकार कैलाश मन्दिर का समूचा वातावरण देव–मूर्तियों से आच्छादित है। विशाल पर्वतखण्ड में असंख्य मूर्तियों का इस प्रकार तराशना कि कहीं कोई अंश बेडौल न हो या टूट न जाय, शिल्पियों के असीम धैर्य, सूझ–बूझ और सतर्कता की अपेक्षा रखता है। इन सब बातों को देखकर उनके कला–कौशल के प्रति दर्शक चकित रह जाता है। कहना न होगा कि राष्ट्रकूट–नरेश ने अपने धन–वैभव का एक बहुत बड़ा अंश इसके निर्माण में लगा दिया होगा और यह उसकी धार्मिक निष्ठा का अनुपम प्रमाण और उज्ज्वल प्रतीक है।

बौद्ध – धर्मावलम्बियों की भाँति ही ब्राह्मण–धर्मावलम्बियों ने भी अपने कुछ मन्दिर बनाये थे, जिनका आरम्भ गुप्तकाल में ही हुआ जान पड़ता है। ब्राह्मणों के जो प्राचीनतम लयण अब तक ज्ञात हुए हैं, वे विदिशा के निकट, बेसनगर से लगभग तीन किलोमीटर दक्षिण–पश्चिम, साँची से किलोमीटर पर स्थित उदयगिरि नामक पर्वत–श्रृंखलाओं में पाये गये हैं। वहाँ इन लयणों की संख्या दस–बारह है। दो में गुप्त–सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल के अभिलेख हैं। एक अन्य लयण में संवत् 106 का लेख है, उसमें किसी शासक का नाम नहीं है, किन्तु लेख में अंकित संवत् को गुप्त संवत् अनुमान कर उसे प्रथम कुमारगुप्त के काल का कहा जाता है। इस श्रृंखला में जो गुफा मन्दिर बनाये गए हैं, वे अपने वास्तु–विधान में बौद्ध गुफाओं से सर्वथा भिन्न हैं। वे बौद्ध गुफाओं की तरह समूचे पहाड़ को काटकर नहीं बनायी गयी हैं। मात्र उनके भीतरी भाग पहाड़ में काटे गये हैं और आगे के भाग को पत्थर के टुकड़ों को चिनकर बनाया गया है। जान पड़ता है कि प्राचीन साहित्य में ऋषि–मुनियों की पर्वतीय गुफाओं के निवास की जो चर्चा है, उसी तरह की प्राकृतिक गुफा अथवा कन्दराओं को परवर्ती काल में कोर–काट और सामने

चिनकर यह रूप दिया गया। ब्राह्मणों और बौद्धों की तरह ही जैनियों ने भी कुछ लयण–मन्दिर बनाये थे। उन्होंने इसका आरम्भ सातवीं सदी के मध्य में किया और उनके ये लयण अपनी रूप–योजना में समकालिक बौद्ध और ब्राह्मण लयणों से बहुत भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार के आरम्भिक लयणों में एक आयहोले और दूसरा बदामी में है। दोनों ही वर्गाकार स्तम्भयुक्त मण्डप हैं जिनके पीछे की ओर गर्भ–गृह है और अगल–बगल मूर्ति। जैन गुफाओं में महत्वपूर्ण एलोरा की गुफा हैं जो ब्राह्मण गुफाओं के क्रम में ही हैं और नवीं शती से पूर्व की हैं। यहाँ इनकी संख्या पाँच है जिनमें इन्द्रसभा और जगन्नाथसभा उल्लेखनीय हैं। इस गुफा में सामने आँगन है जिसके बीच चट्टानों को काटकर बनाया गया द्रविड़ शैली का मन्दिर है। आँगन के बाद दो मंजिला गुफा है। दोनों ही मंजिल स्तम्भयुक्त मण्डप सरीखे हैं जिनके पीछे गर्भ–गृह हैं। उनके अगल–बगल कुछ कोठरियाँ हैं। जगन्नाथसभा भी इन्द्रसभा से मिलती–जुलती है। कालांतर में गुफा वास्तु का अन्त हो गया। चिनाई द्वारा मन्दिरों के निर्माण की विकसित होती हुई कला ने वास्तुकारों को अपनी कला के विकास के लिए विस्तृत दिशाएँ प्रस्तुत कर दी थीं। उसकी विस्तृत सम्भावनाओं के आगे गुफा स्थापत्य बनाने के श्रमसाध्य कार्य की उपेक्षा स्वाभाविक ही थी। किन्तु उससे प्रस्तर–तक्षण की इस कला का सर्वथा लोप नहीं हुआ वरन् उसने एक नयी विधा का रूप धारण किया। अब तक पत्थर को कोरकर मात्र मण्डप बनाने की अपेक्षा चुने हुए वास्तु–मन्दिरों के अनुकरण पर मूर्ति–निर्माण–शैली में पर्वतों को ऊपर और भीतर दोनों दिशाओं से काट और गढ़कर वास्तु को मूर्त रूप देने लगे। इस नयी शैली का आरम्भ पल्लव–नरेश मामल्ल ने मामल्लपुरम् में रथों का निर्माण कराकर किया और पीछे उनका अनुकरण चालुक्यों ने वैरूल के कैलाश मन्दिर के निर्माण में किया किन्तु यह शैली अपने–आपमें बहुत सीमित ही रही।

भारतीय शैलकृत (रॉक–कट) वास्तुकला दुनिया भर में रॉक–कट वास्तुकला के किसी भी अन्य रूप की तुलना में अधिक विविधतापूर्ण और उस देश में अधिक प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। भारत में 1,500 से ज्यादा ज्ञात रॉक–कट संरचनाएँ हैं। इनमें से कई संरचनाओं में वैश्विक महत्व की कलाकृतियाँ हैं और ज्यादातर को बेहतरीन पत्थर की नक्काशी से सजाया गया है। ये प्राचीन और मध्यकालीन संरचनाएँ संरचनात्मक इंजीनियरिंग और शिल्प कौशल की महत्वपूर्ण उपलब्धियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। मनुष्यों द्वारा उपयोग की जाने वाली प्रारंभिक गुफाएँ प्राकृतिक गुफाएँ थीं, जिनका उन्होंने विभिन्न उद्देश्यों के लिए उपयोग किया या कब्जा किया, जैसे कि मंदिर और आश्रय। बुद्ध के समय, बौद्ध भिक्षु प्राकृतिक गुफाओं का उपयोग करने की आदत में थे, जैसे कि सप्तपर्णी गुफा, राजगीर, बिहार से दक्षिण–पश्चिम में कई लोग इसे वह स्थान मानते हैं जहाँ बुद्ध ने अपनी मृत्यु से पहले कुछ समय बिताया था और जहाँ बुद्ध की मृत्यु (परिनिर्वाण) के बाद पहली बौद्ध परिषद् आयोजित की गयी थी। बुद्ध ने स्वयं भी ध्यान के लिए इंद्रशाला गुफा का उपयोग किया था, जिससे प्राकृतिक या मानव निर्मित गुफाओं का धार्मिक एकांतवास के रूप में उपयोग करने की परंपरा शुरू हुई, जो एक सहस्राब्दी से अधिक समय तक चली। बिहार के दक्षिण–पूर्व में, उदयगिरि और खंडगिरि गुफाएँ, आंशिक रूप से प्राकृतिक और आंशिक रूप से कृत्रिम गुफाएँ भारत के ओडिशा के भुवनेश्वर शहर के पास बनाई गई थीं। गुफाएँ दो समीपवर्ती पहाड़ियों, उदयगिरि और खंडगिरि पर स्थित हैं, जिनका उल्लेख हाथीगुफा शिलालेख में कुमारी पर्वत के रूप में किया गया है । इनमें दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के

दौरान निर्मित कई बारीक और अलंकृत नक्काशीदार गुफाएँ हैं। ऐसा माना जाता है कि इनमें से अधिकांश गुफाएँ राजा खारवेल के शासनकाल के दौरान जैन भिक्षुओं के लिए आवास स्थल के रूप में बनाई गई थीं । उदयगिरि का अर्थ है ''सूर्योदय पहाड़ी'' और इसमें 18 गुफाएँ हैं जबकि खंडगिरि में 15 गुफाएँ हैं। गुफाओं का निर्माण दूसरी शताब्दी ई. के बाद कम हो गया, संभवतः महायान बौद्ध धर्म के उदय और गांधार और अमरावती में संबंधित गहन स्थापत्य और कलात्मक नवाचार के कारण दक्षिण भारत के कई हिंदू राजाओं ने हिंदू देवी–देवताओं को समर्पित कई गुफा मंदिरों का संरक्षण किया।

गुफा मंदिर वास्तुकला का एक ऐसा ही प्रमुख उदाहरण बादामी में बादामी गुफा मंदिर हैं, जो प्रारंभिक चालुक्य राजधानी है, जिसे 6वीं शताब्दी में बनाया गया था। चट्टानों के किनारों से काटे गए चार गुफा मंदिर हैं, तीन हिंदू और एक जैन, जिनमें सजावटी स्तम्भ और कोष्ठक जैसे नक्काशीदार वास्तुशिल्प तत्व हैं, साथ ही बारीक नक्काशीदार मूर्तिकला और समृद्ध रूप से नक्काशीदार छत पैनल भी हैं। आस–पास कई छोटे बौद्ध गुफ़ा मंदिर हैं। बादामी गुफा मंदिर भारत के उत्तरी कर्नाटक के बागलकोट जिले के एक शहर बादामी में स्थित बौद्ध, हिंदू और जैन गुफा मंदिरों का एक परिसर है। बादामी गुफा मंदिरों को पहाड़ी चट्टान पर नरम बादामी बलुआ पत्थर से उकेरा गया है। यहां स्थित चारों गुफाओं में से प्रत्येक की योजना में एक प्रवेश द्वार शामिल है जिसमें एक बरामदा (मुख मंडप) है जो पत्थर के स्तम्भों और कोष्ठकों द्वारा समर्थित है, इन गुफाओं की एक विशिष्ट विशेषता है, जो एक स्तम्भ मंडप, या मुख्य हॉल (महामंडप भी) की ओर जाता है और फिर गुफा के अंदर गहराई में काटे गए छोटे, चौकोर मंदिर (गर्भगृह) की ओर जाता है। गुफा मंदिरों को शहर और झील के नजारों वाली मध्यवर्ती छतों के साथ एक सीढ़ीदार रास्ते से जोड़ा गया है। ये गुफाएँ भारतीय रॉक–कट वास्तुकला, विशेष रूप से बादामी चालुक्य वास्तुकला के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। बादामी एक आधुनिक नाम है और इसे पहले ''वातापी'' के नाम से जाना जाता था, जो प्रारंभिक चालुक्य वंश की राजधानी थी, जिसने 8वीं शताब्दी में कर्नाटक के अधिकांश भाग पर शासन किया था। बादामी गुफा मंदिर दक्कन क्षेत्र में हिंदू मंदिरों के सबसे पुराने ज्ञात उदाहरणों में से एक हैं। ऐहोल के मंदिरों के साथ मिलकर उन्होंने मल्लप्रभा नदी घाटी को मंदिर वास्तुकला के उद्गम स्थल में बदल दिया, जिसने बाद में भारत में अन्य जगहों पर बने हिंदू मंदिरों के घटकों को प्रभावित किया। चारों गुफाओं में, हिंदू देवताओं और विभिन्न मूर्तियों के बीच नटराज के रूप में नृत्य करते शिव की भी है। इस गुफा के अंदर, शिव के पुत्र, गणेश और कार्तिकेय, युद्ध के देवता और चालुक्य वंश के पारिवारिक देवता, गुफा की दीवारों पर नक्काशीदार मूर्तियों में से एक में दिखाई देते हैं, जिसमें कार्तिकेय एक मोर की सवारी करते हैं। गुफ़ा की छत में पाँच नक्काशीदार पैनल हैं, जिनमें नागराज को दर्शाया गया है। छत पर बादलों में उड़ते हुए पुरुष और महिला मूर्तियों के बीच में भित्तिचित्रों वाले पैनल हैं। पुरुष आकृति तलवार और ढाल पकड़े हुए यक्ष है। पैनलों पर कमल के फूलों की सजावट भी देखी जा सकती है। हॉल की छत को नौ पैनलों में विभाजित किया गया है। यहाँ केंद्रीय पैनल में एक मेढ़े पर सवार एक देव को दर्शाया गया है – जिसे अग्नि माना जाता है। ब्रह्मा और वरुण की छवियाँ भी केंद्रीय पैनलों पर चित्रित की गई हैं। शेष पैनलों में तैरती हुई आकृतियाँ दिखाई देती हैं।

बौद्ध धर्म की विचारधारा व्यापार और वाणिज्य के साथ जुड़ाव को प्रोत्साहित करती है और व्यापारियों के साथ बौद्धों की प्रारंभिक भागीदारी ने संभवतः उन्हें प्रमुख व्यापार मार्गों के करीब अपने मठवासी प्रतिष्ठानों को स्थापित करने के लिए प्रभावित किया। इस प्रकार सभी बौद्ध गुफाएँ महत्वपूर्ण व्यापार मार्गों के पास स्थित हैं और कई यात्रा करने वाले व्यापारियों के लिए पड़ाव स्थल बनी हुई हैं। इनमें से कुछ धनी व्यापारियों के निर्देशन में गुफाओं के आंतरिक भाग धीरे–धीरे अधिक उन्नत और विस्तृत हो गए। इनमें विहार और चैत्य जैसे विशिष्ट उद्देश्यों के लिए क्षेत्रों को विभाजित करना और क्षेत्रों को बढ़िया नक्काशी, राहत और चित्रों से अलंकृत करना शामिल था। कुछ गुफाओं में विस्तृत अग्रभाग, मेहराब और स्तंभ भी शामिल थे। बौद्ध, चैत्य और विहार प्रारंभिक गुफ़ा संरचनाओं के उदाहरण के रूप में खड़े हैं। जब विहार भिक्षुओं के आवासीय क्षेत्र थे, मण्डली पूजा चैत्य नामक गुफा मंदिरों में की जाती थी। गर्भगृह में चट्टान को काटकर बनाया गया एक स्तंभयुक्त गोलाकार कक्ष स्तूप के चारों ओर परिक्रमा करने में सक्षम बनाता है ।

बौद्ध वास्तुकला में दूसरा चरण देखा गया जो 5वीं शताब्दी ईस्वी में शुरू हुआ। इस अवधि के दौरान उभरे वास्तुशिल्प डिजाइन का सबसे प्रमुख पहलू भगवान बुद्ध की छवि का परिचय था। विभिन्न मुद्राओं में भगवान बुद्ध की विशाल मूर्तियाँ, साथ ही जातक कथाएँ और बौद्ध धर्म से जुड़े देवताओं को चित्रों और नक्काशी के रूप में स्तूपों पर जगह मिली । विहारों में बौद्ध धर्म से जुड़ी मूर्तियाँ भी स्थापित की गईं।

अजंता की प्रसिद्ध गुफाओं के चित्रों की चमक हज़ार से अधिक वर्ष बीतने के बाद भी आधुनिक समय से विद्वानों के लिए आश्चर्य का विषय है। औरंगाबाद से 107 किलोमीटर पूर्वोत्तर में वगुर्ना नदी घाटी के 20 मीटर गहरे बाएँ छोर पर एक चट्टान के आग्नेय पत्थरों की परतों को खोखला करके ये मंदिर बनाए गए हैं।

लगभग तीस गुफ़ाओं के इस समूह की खुदाई पहली शताब्दी ई. पू. और सातवीं शताब्दी के बीच दो रूपों में की गई थी– चैत्य (मंदिर) और विहार (मठ)। यद्यपि इन मंदिरों की मूर्तिकला, ख़ासकर चैत्य स्तम्भों का अलंकरण अद्‌भुत तो है, लेकिन अंजता की गुफ़ाओं का मुख्य आकर्षण भित्ति चित्रकारी है। इन चित्रों में बौद्ध धार्मिक आख्यानों और देवताओं का जितनी प्रचुरता और जीवंतता के साथ चित्रण किया गया है, वह भारतीय कला के क्षेत्र में अद्वितीय है। अजंता की गुफाएँ बौद्ध धर्म द्वारा प्रेरित और उनकी करुणामय भावनाओं से भरी हुई शिल्पकला और चित्रकला से ओतप्रोत हैं, जो मानवीय इतिहास में कला के उत्कृष्ट ज्ञान और अनमोल समय को दर्शाती हैं। बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय द्वारा बनाई गई ये गुफाएँ सजावटी रूप से तराशी गई हैं। फिर भी इनमें एक शांति और अध्यात्म झलकता है तथा ये दैवीय ऊर्जा और शक्ति से भरपूर हैं। दूसरी शताब्दी डी. सी. में आरंभ करते हुए और छठवीं शताब्दी ए. डी. में जारी रखते हुए महाराष्ट्र में औरंगाबाद शहर से लगभग 107 किलो मीटर की दूरी पर अजंता की ये गुफाएँ पहाड़ को काट कर विशाल घोड़े की नाल के आकार में बनायी गयी हैं। अजंता में 29 गुफाओं का एक झुंड बौद्ध वास्तुकला, गुफा चित्रकला और शिल्प चित्रकला के उत्कृष्तम उदाहरणों में से एक है। इन गुफाओं में चैत्य कक्ष या मठ है, जो भगवान बुद्ध और विहार को समर्पित हैं, जिनका उपयोग बौद्ध भिक्षुओं द्वारा ध्यान लगाने और भगवान बुद्ध की शिक्षाओं का अध्ययन करने के

लिए किया जाता था। गुफाओं की दीवारों तथा छतों पर बनायी गयी ये तस्वीरें भगवान बुद्ध के जीवन की विभिन्न घटनाओं और विभिन्न बौद्ध देवत्व की घटनाओं का चित्रण करती हैं। इसमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण चित्रों में जातक कथाएँ हैं, जो बोधिसत्व के रूप में बुद्ध के पिछले जन्म से संबंधित विविध कहानियों का चित्रण करते हैं, ये एक संत थे जिन्हें बुद्ध बनने की नियति प्राप्त थी। ये शिल्पकलाओं और तस्वीरों को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करती हैं जबकि ये समय के असर से मुक्त है। ये सुंदर छवियाँ और तस्वीरें बुद्ध को शांत और पवित्र मुद्रा में दर्शाती हैं। सह्याद्रि की पहाड़ियों पर स्थित इन 30 गुफाओं में लगभग 5 प्रार्थना भवन और 25 बौद्ध मठ हैं। इन गुफाओं की खोज आर्मी ऑफिसर जॉन स्मिथ व उनके दल द्वारा सन् 1819 में की गई थी। वे यहाँ शिकार करने आए थे, तभी उन्हें कतारबद्ध 29 गुफाओं की एक श्रृंखला नज़र आई और इस तरह ये गुफाएँ प्रसिद्ध हो गई। घोड़े की नाल के आकार में निर्मित ये गुफाएँ अत्यन्त ही प्राचीन व ऐतिहासिक महत्व की है। इनमें 200 ईसा पूर्व से 650 ईसा पश्चात् तक के बौद्ध धर्म का चित्रण किया गया है। अजंता की गुफाओं में दीवारों पर खूबसूरत अप्सराओं व राजकुमारियों के विभिन्न मुद्राओं वाले सुंदर चित्र भी उकेरे गए है, जो यहाँ की उत्कृष्ट चित्रकारी व मूर्तिकला के बेहद ही सुंदर नमूने है। अजंता की गुफाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक भाग में बौद्ध धर्म के हीनयान और दूसरे भाग में महायान संप्रदाय की झलक देखने को मिलती है। हीनयान वाले भाग में 2 चैत्य और 4 विहार है तथा महायान वाले भाग में 3 चैत्य और 11 विहार है। ये 19वीं शताब्दी की गुफाएँ है, जिसमें बौद्ध भिक्षुओं की मूर्तियाँ व चित्र है। हथौड़े और छैनी की सहायता से तराशी गई ये मूर्तियाँ अपने आप में अप्रतिम सुंदरता को समेटे है।

भारत का गुफा स्थापत्य एक समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर है, जो भारतीय सभ्यता की उत्कृष्टता और विविधता का प्रतीक है। यह कला, धर्म, और इतिहास के संगम का अद्वितीय उदाहरण है, जिसे समझना और संरक्षित करना हमारी जिम्मेदारी है। गुफाएँ न केवल भारतीय इतिहास का अभिन्न हिस्सा हैं, बल्कि वे हमारे अतीत की जीवंत गवाही भी देती हैं, जो आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का स्रोत रहेगी।

प्राचीन भारत के प्रमुख सामुद्रिक व्यापारिक मार्ग

• डॉ. सुमित मेहता

भारत का एक विशाल भू–भाग समुद्र से घिरा है एवं इस पर कई बन्दरगाह स्थित है। इसी कारण से यहाँ समुद्री व्यापार में पर्याप्त प्रगति हुई। सिन्धु सभ्यता के लोग भी समुद्र के द्वारा अन्य देशों से व्यापार किया करते थे। ए.एल बाथम के अनुसार हड़प्पा सभ्यता के लोगों ने समुद्री व्यापार में कोई विशेष रूचि नहीं दिखाई। लेकिन प्राप्त साक्ष्य इस काल में समुद्री व्यापार की प्रगति को इंगित करते हैं। लोथल में कई खिलौने रूपी मिट्टी के जहाज एवं नावों के अंकन वाली मुद्राएँ प्राप्त हुई है। सुमेर में उर नामक स्थान पर 'मक्कन', 'भग्गन' व 'किल्हुआ' लिखी हुई मिट्टी की टिकियाँ मिली है। मक्कन और भग्गन का संबंध बलुचिस्तान के सामुद्रिक तट मकरान से है और किल्हुआ का पश्चिमी भारत से। इससे सिद्ध होता है कि उर का सामुद्रिक मार्ग द्वारा मकरान और पश्चिमी भारत से संबंध था और इसी मार्ग द्वारा व्यापार किया जाता था। साहित्यिक साक्ष्यों से पता चलता है कि उर के व्यापारी अनेक देशों से व्यापार करते थे जिनमें मेलुहा नामक एक जगह भी थी जो की भारत के उत्तर–पश्चिम के एक बंदरगाह के रूप में पहचाना गया है। इस जगह पर ताँबा, सोना, हाथी दाँत, मोती और अनेक प्रकार की लकड़ियाँ आदि मेसोपोटामिया से लाये जाते थे। कुछ साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि पश्चिम एशिया में, सिन्धु घाटी के क्षेत्र से सूती कपड़े भेजे जाते थे तथा हड़प्पा संस्कृति के काल में भारत का सुमेर, एलम

और टाइलोस से व्यापार होता था। वैदिक काल के व्यापारी स्थल और समुद्री मार्ग से विदेशी व्यापार करते थे। धनी व्यापारियों को पणी कहा जाता था। उन्हें अपनी कंजूसी के लिए जाना जाता था। इसी कारण से उन्हें ब्राह्मणों का शत्रु माना गया और कभी–कभी गुलाम भी कहा गया। ऋग्वेद में ब्राह्मणों के लिए 'वणिज' शब्द का उपयोग किया गया है। ऋग्वेदिक काल में सामुद्रिक व्यापार अधिक होता था। आर्य समुद्र व नदियों की यात्रा करने के लिए बड़ी–बड़ी नौकाओं का निर्माण करते थे। नदियों में चलने वाली छोटी नावों के लिए 'नौ' शब्द का प्रयोग होता था। बेड़े (मद्रास) के समुद्र तट पर चलने वाली टोनी नावों के लिए भी 'नौ' शब्द का प्रयोग किया जाता था।

उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों से भी सामुद्रिक व्यापार के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। सौ–सौ डांडों वाले पोत का उपयोग करके समुद्र से मोती पैदा करने वाले सीप लाये जाते थे। रालिंसन के मतानुसार यूनानी कवि होमर के समय में कुछ यूरोपीय देशों से भारत के व्यापारिक संबंध थे और वस्तुओं का अदल–बदल होता था। कृष्णदत्त वाजपेयी, एन.सी बंधोपाध्याय आदि कुछ विद्वानों के मतानुसार यह माना जाता है कि पूर्वी अफ्रीका के कुछ समुद्रतटीय देश जैसे असीरिया, सुमेरिया, बेबीलोन और अन्य पड़ोसी देशों के साथ भारत का व्यापार होता था। बौद्ध ग्रन्थों में भी व्यापारियों के समुद्र यात्रा करके धन कमाने का उल्लेख मिलता है। भड़ौच तथा सोपारा के व्यापारिक जहाज बेबीलोनिया जाते थे। यूनान व भारत के मध्य व्यापार होता था। व्यापार के लिए वाराणसी और चम्पा के व्यापारी ताम्रलिप्ति होते हुए सुवर्णभूमि (दक्षिण म्यानमार) तक जाते थे। बुद्ध काल में भारतीय व्यापारी छः–छः मास की लम्बी यात्रा करते थे। वलाहसन जातक में वाराणसी के 500 व्यापारियों का तम्बपण्णि द्वीप के सिरिसवत्थु नामक नगर में पँहुचने तथा इस द्वीप की कल्याणी नदी का उल्लेख किया गया है) जो यह स्पष्ट करता है कि उस समय भारत का लंका के साथ समुद्री मार्ग द्वारा संबंध था। भरूकच्छ के व्यापारी, 600 यात्रियों के विशाल समूह के साथ, एक लम्बी यात्रा पर गये जिसका वर्णन सुप्पारक जातक में मिलता है। इस यात्रा के दौरान छः समुद्र मार्ग में आये। ये सभी तथ्य बेबीलोन, अरब, मिश्र, यूनान, भूमध्यसागर आदि के साथ समुद्री मार्ग द्वारा भारत के व्यापारिक संबंध को दर्शाते हैं। पूर्व में कई देशों, सुवर्णभूमि, जव, तम्बपण्णि, काल–मुख आदि के साथ समुद्री मार्ग के द्वारा व्यापार का उल्लेख महानिद्धेस ग्रन्थ में किया गया है। मिलिन्दपन्हों में चीन के साथ भारत के समुद्री मार्ग के द्वारा व्यापार का वर्णन किया गया है। भारत के व्यापारी पश्चिमी तट पर स्थित भरूकच्छ और सुप्पाक जैसे प्रसिद्ध बन्दरगाहों से अरब, बेबीलोन, ताम्रलिप्ती और सुवर्णभूमि को यात्रा करते थे। माना गया है कि व्यापारियों के इसी रास्ते होकर काबुल तक व्यापारिक संबंध थे।

कौटिल्य द्वारा दो प्रकार के जलमार्ग बताए गये हैं, प्रथम कूलपथ–समुद्र का तटवर्ती पथ एवं संयान पथ–पानी के मध्य से गुजरने वाला पथ। समुद्री लुटेरों के भय के कारण तटवर्ती पथों को संयान पथ से उत्तम माना जाता था क्योंकि तटीय क्षेत्रों में अनेक व्यापारिक नगर बसे होते थे। मध्य समुद्र के मार्ग के स्थान पर तटीय मार्ग सुरक्षित होने के साथ–साथ व्यापार के अधिक अवसर भी प्रदान करता था। कई बौद्ध ग्रन्थ जैसे दिव्यावदान, अवदानशतक, महावस्तु, जैन ग्रन्थ जैसे संगम साहित्य एवं कई भारतीय एवं विदेशी शासकों के सिक्के और अभिलेख मौर्योत्तर काल के सामुद्रिक व्यापारिक मार्गों के साक्ष्य प्रकट करते हैं।

पेरीप्लस एवं टालमी ने अपने भूगोल ग्रन्थ में प्रथम एवं द्वितीय सदी के सामुद्रिक व्यापार का प्रमाणिक विवरण दिया है। पेरीप्लस के अनुसार सम्पूर्ण समुद्री व्यापार का नियंत्रण राजा के हाथ में होता था। समुद्री मार्ग से लायी गयी वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था भी राजा ही करता था। भृगुकच्छ का राजा, बंदरगाह पर आने वाले विदेशी व्यापारियों की सुरक्षा के लिए अपने राज्य के मछुआरों की नियुक्ति करता था। चीन, मध्य एशिया तथा पश्चिमी एशिया के देशों के साथ पश्चिमोत्तर भारत के व्यापारी तथा अरेबिया, लालसागर, अलेक्जेंड्रिया के साथ पश्चिमी दक्षिण भारत के व्यापारी व्यापार करते थे।

47 ई. में हिप्पालस द्वारा मौसमी मानसूनी हवाओं की खोज की गई जिसके फलस्वरूप समुद्री व्यापार अत्यधिक समृद्ध हुआ। पेरिप्लस ने भृगुकच्छ को दक्षिणापथ के पश्चिमी तट पर सबसे महत्वपूर्ण बन्दरगाह माना है। इसी के दक्षिण में स्थित शूर्पारक और सिन्धु के मुहाने पर स्थित वारवेरिकम भी इस काल के महत्वपूर्ण बन्दरगाह माने गये। इनके अलावा रोस्क का बन्दगाह भी काफी महत्वपूर्ण था जिसे कच्छ की खाड़ी के तट पर स्थित माना गया। ताम्रलिप्ती दक्षिणापथ के पूर्वी तट का सबसे महत्वपूर्ण बन्दगाह था। जहाँ से पूर्वी देशों को गंगा और यमुना के मैदान की वस्तुएँ भेजी जाती थी। मिलिन्दपन्ह में लेख है कि भारतीय जहाज यहाँ से सिकन्दरिया, पूर्वी द्वीप समूह, गुजरात, काठियावाड, चीन आदि प्रदेशों को जाते थे। मेसोपोटामिया के साथ भारत तीन मार्गों से व्यापार करता था। पहला मार्ग तो सिन्धक गेड्रेशिया और ईरान के समुद्र तट के सहारे जाता था और कुछ मार्ग स्थल द्वारा और कुछ समुद्र द्वारा था। व्यापारी गांधार से बैक्ट्रिया तथा वहां से कैस्पियन सागर और काला सागर पार करके पश्चिमी एशिया पँहुचते थे। तीसरा मार्ग सिन्ध से ईरान तक सम्पूर्ण स्थल मार्ग था। समुद्री व्यापार की प्रगति गुप्तकाल में अधिक हुई। सिन्ध, कल्याण, देवल, भृगुकच्छ, शूर्पारक और सूरत, आंतरिक एवं विदेशी व्यापार के लिए, पश्चिमी भारत के महत्वपूर्ण बन्दरगाह थे। कल्याणी, भृगुकच्छ से प्रारम्भ होकर जल मार्ग फारस की खाड़ी होता हुआ मिश्र को जाता था। फाह्यान के अनुसार जब वह वापस समुद्री यात्रा करके चीन लौट रहा था तो उसके साथ कई वैष्णव धर्म के अनुयायी भी थे जो उसे जहाज से उतारना चाहते थे क्योंकि वे मानते थे कि बौद्ध चीनी यात्री होने के कारण ही जहाज में तूफान आया है। नायाधम्म कथाओं में चंपा के कुछ व्यापारियों द्वारा तेरह बार लवण समुद्र पार किए जाने का विवरण मिलता है। इस काल में भारत का व्यापार मलयप्रायद्वीप, श्रीलंका, चीन, मिश्र, ईरान आदि से पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रतटीय बन्दरगाहों के द्वारा होता था। पश्चिमी देशों में सामुद्रिक व्यापार में श्रीलंका की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण थी। जहाज ताम्रलिप्ती से श्रीलंका जाते तथा श्रीलंका से सामान लेकर कल्याण, मालावार और सिंध के बन्दरगाहों में आते थे। कालीधारा से होकर जापान गये दो भारतीयों ने जापान में पहली बार कपड़ा प्रचलित किया ऐसा जापानी अभिलेखों से ज्ञात होता है। यह बात चीन सागर में भारतीयों की उपस्थिति को प्रामाणित करती है। भारत और चीन के बीच नियमित व्यापारिक संबंध के साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं। अरबों की भारतीय व्यापारियों के साथ प्रतिस्पर्धा के कारण भारत और चीन के व्यापारिक संबंधों को नुकसान हुआ। चोल शासक राजेन्द्र प्रथम ने दक्षिण–पूर्व एशिया के कई स्थानों पर कब्जा कर लिया था ऐसा करके वह चीन के लिए भारत से होने वाले व्यापारिक मार्ग को सुरक्षित करना चाहता था। इसके अतिरिक्त राजेन्द्र (1019 ई.) के शासन काल के तंजौर

अभिलेख में चीनी स्वर्ण के दान का उल्लेख, चोल साम्राज्य और चीन के बीच व्यापारिक संबंधों की पुष्टि करता है। तंजौर के पास ही प्राप्त हुए सुंग साम्राज्य के 15 सिक्के दक्षिण भारत और चीन के बीच व्यापारिक संबंध की पुष्टि करते हैं। चीनी जहाजों की उच्च गुणवत्ता एवं चीनी नाविकों के समुद्री कम्पास के प्रयोग के कारण समुद्री व्यापार के क्षेत्र में चीन की स्थिति अच्छी थी। श्रीलंका एवं इण्डोनेशिया भी उचित भौगोलिक स्थिति में होने के कारण लाभप्रद देश थे।

पूर्व से पश्चिम की ओर आवागमन करने वाले जहाज मध्य में श्रीलंका में रूका करते थे। मलय, जलडमरू और श्रीलंका के बीच मानसून की स्थिति के कारण सीधा आवागमन होता था। अधिकांश व्यापारियों का व्यापारिक संबंध मलय प्रायद्वीप के देशों से था। फारस की खाड़ी का मार्ग और लाल सागर जाने वाला मार्ग दोनों ऐसे मार्ग थे जो भारत को पश्चिम से मिलाते थे। समुद्री मार्ग के प्रवेश द्वार को बावेल मन्देव कहा जाता है। इन दोनों समुद्री व्यापारिक मार्गों ने पश्चिमी विश्व को प्राचीन भारत से जोड़ने का काम किया। फारस की खाड़ी से होता हुआ समुद्री मार्ग चीन के कैन्टन तक जाता था, मध्य में पड़ने वाले गुजरात के बन्दरगाह महत्वपूर्ण माने जाने लगे थे। लल्लन जी गोपाल के अनुसार पूर्वी तटों की अपेक्षा पश्चिमी तट मुस्लिम देशों के साथ व्यापार करने में अधिक महत्वपूर्ण थे क्योंकि पूर्वी तटों से मुस्लिम देशों की दूरी अधिक पड़ती थी इसलिए यहाँ से दक्षिणी पश्चिमी देशों की यात्रा अधिक लाभकारी थी। इस समय दक्षिणी पूर्वी एशिया में सामुद्रिक व्यापार का विकास क्रमशः इण्डोनेशिया से भारत के पूर्वी तट, भारत के पूर्वी तट से श्रीलंका और श्रीलंका से चीन तक हुआ। कासमस के अनुसार चीन, इण्डोनेशिया और दक्षिण भारत से होने वाला व्यापार सिलोन तक होता हुआ पश्चिमी देशों तक होता था। पारसियों के द्वारा वैजन्टाइन साम्राज्य को रेशम निर्यात किया जाता था। रेशम के व्यापार पर पारसियों का एकाधिकार था।

अरबी जहाजों द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला प्रमुख व्यापारिक मार्ग दक्षिण–पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित क्वीलोन बन्दरगाह से फारस की खाड़ी के लिए था। अलइदरिसी ने भी फारस की खाड़ी से भारत तक के एक समुद्री मार्ग का उल्लेख किया है। अलमसूदी ने भी ओमान, सिराफ, बसरा आदि देशों को जाने और वहाँ से पुनः चीन आने वाले जहाजों का वर्णन किया है। नौवीं शताब्दी के मध्य तक चीन के लिए नियमित जलयान जाने लगे थे। अबूजैद के अनुसार अधिकांश चीनी जहाज सिराफ से चलकर मस्कट जाते थे और क्वीलोन पँहुचते थे। गुजरात से विदेशों को निर्यात और आयात की जाने वाली वस्तुएं इसी समुद्री मार्ग द्वारा उत्तर में मस्कट और दक्षिण में क्वीलोन पँहुचाई जाती थी। एक अन्य मार्ग होरमुज, मकरान के तीज और सिन्ध के देवल आदि बन्दरगाहों से होता हुआ, फिर गुजरात से होता हुआ, दक्षिण में क्वीलोन और मालाबार तट के बन्दरगाहों से होता हुआ श्रीलंका तक जाता था। श्रीलंका से एक मार्ग बंगाल की खाड़ी तक और दूसरा निकोबार द्वीप के पूर्व में स्थित केदाह को जाता था। केदाह से भी दो मार्ग निकलते थे जिनमें से प्रथम दक्षिण पूर्वी द्वीप समूह को तथा दूसरा मार्ग हिन्द, चीन, चम्पा तथा टोकिंग की खाड़ी के तटीय प्रदेशों से होता हुआ केन्टन तक जाता था।

अलबरूनी के अनुसार भारतीय समुद्र तट मकरान की राजधानी तीज से प्रारम्भ होता था और दक्षिण पूर्व में देवल तथा देवल के आगे कच्छ, सोमनाथ, खंभात, भड़ौच, थाना आदि बन्दरगाह स्थित थे। इस समय तक तो भारत के विदेशी व्यापार के विकास में अरबों और

चीनियों की प्रमुख भूमिका रही। दसवीं शताब्दी तक पश्चिमी समुद्र तट के अनेक नगरों में अनेक मुस्लिम लोग निवास करने लगे थे। इन लोगों ने अरब से चीन तक फैले तटीय देशों में तथा हिन्द महासागर में व्यापार करना प्रारम्भ कर दिया था। जिसके कारण भारतीय व्यापार में पिछड़ गये। इसके अलावा भारतीय व्यापारियों को मुस्लिम आक्रमणकारियों का भी अधिक भय था। अतः उन्हें आन्तरिक व्यापार अधिक सुगम लगा। मार्कोपोलो के अनुसार भारतीय जहाज होरमुज तथा फु–चाऊ को जाते थे। टुडेला के बैजंमिन के अनुसार भारतीय व्यापारी फारस की खाड़ी के किश द्वीप में अपना माल ले जाकर उसे यमन, मेसोपोटामिया और फारस के व्यापारियों द्वारा लाये गये माल से बदल लेते थे। ताबरी नामक फारसी इतिहासकार भारत और फारस के बीच घनिष्ठ संबंध का उल्लेख करता है। अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी से इस तथ्य की पुष्टि होती है। ऐसा माना जाता है कि जहाज गहरे समुद्र से ना गुजरकर तट के साथ–साथ चलते थे और चप्पू चलाने और ताजा पानी लेने के लिए वे तट के लोगों से सम्पर्क जरूर रखते थे। भूमध्य क्षेत्र से चलने वाले वे जहाज जो पश्चिम से आते थे, लाल सागर से होकर गुजरते थे और दक्षिण तट के सहारे होते हुए ये जहाज सिन्धु नदी के मुहाने पर स्थित देवल पत्तन पर जाकर रूकते थे। कैम्बे, सोपारा, थाना और सिन्डम बन्दरगाहों पर भारत के पश्चिमी तट से चलकर दक्षिण की ओर जाने वाले जहाज रूकते थे। दक्षिण से आगे ये विलाम, मलय और मलय से चलकर श्रीलंका जाते थे। श्रीलंका से जहाज भारत के पूर्वी तट से होते हुए इण्डोनेशिया पँहुचकर चीनी पत्तनों की ओर चले जाते थे। भारत का समुद्री व्यापार अफ्रीका से भी होता था। अफ्रीका, कई बन्दरगाहों युक्त, एक विशाल महाद्वीप था और अरब से जुड़ा हुआ था। अरबों के माध्यम से ही भारत का अफ्रीका से समुद्री व्यापार हुआ करता था। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी में भारत और अफ्रीका के मध्य अच्छा व्यापार हुआ करता था। अतः साक्ष्यों से स्पष्ट है कि चोल शासन काल में प्रायद्वीपीय भारत के पूर्वी तटों से तो इण्डोनेशिया ओर चीन तक व्यापार होता था तथा पश्चिमी तट से फारस, अरब, अफ्रीका और भूमध्य सागर तक व्यापार होता था।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- वंडर दैट वाज इंडिया, पृ. 19
- डॉ. कैलाश चन्द्र जैन, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, पृ. 205–6
- वैदिक इंडेक्स, भाग. एए पृ. 471–73
- ऋग्वेद 10/155/3
- मुकर्जी, आर.के.. हिस्ट्री ऑफ इंडियन शिपिंग, पृ. 90
- जातक जिल्द पृ. 127–129
- राधा कुमुद मुकर्जी हिस्ट्री ऑफ इंडियन शिपिंग, पृ. 82
- रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पृ. 95
- प्रो. श्याममनोहर मिश्रा, प्राचीन भारत का आर्थिक जीवन, पृ. 291
- ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पृ. 108
- आर.के. मुकर्जी, हिस्ट्री ऑफ इंडियन शिपिंग, पृ. 174
- आर.सी. मजुमदार, दि क्लिासिकल, पृ. 598
- नियोगी, पुष्पा, इकनामिक हिस्ट्री, पृ. 174–176
- नियोगी, पुष्पा, इकनामिक हिस्ट्री, पृ. 146
- आर.सी. मजुमदार, दि ऐज ऑफ इम्पेरियल कन्नौज, पृ. 403

विक्रमादित्य का कालनिर्णय

• डॉ. सर्वेश्वर शर्मा

हम सभी जानते है कि आजादी के बाद जब भारत इतिहास लिखा गया तो उसने हिन्दू विजयों और प्रतीकों को जान बूझकर छुपाया गया और उन्हें हाशिए पर धकेला गया और इतिहास व उन लोगों का महिमा मण्डल ज्यादा किया गया, जिन्होंने भारत पर आक्रमण कर यहाँ की संस्कृति और तभाता को नष्ट करने का प्रयास किया। भारतीय वीरता और गौरव के इतिहास का एक ही अध्याय है जिसे कभी उद्घाटित नहीं किया गया। क्योंकि यह हिन्दू अस्मिता और गौरव से जुड़ा हुआ था। ऐसे ही गौरवशाली अध्याय का नाम है ''सम्राट विक्रमादित्य''। विक्रमादित्य ने आक्रमणकारी शकों को समूल रूप से पराजित कर देश के बाहर खदेड़कर भारत के गौरव को बढ़ाया। इस विजय के बाद विक्रमादित्य को शकारी की उपाधि से सम्मानित किया गया। इस विजय की स्मृति में ही महान् सम्राट् विक्रमादित्य ने एक सम्वत् की शुरुआत की, जिसे विक्रम सम्वत् कहते है।

इस घटना की शुरुआत ईसा से 100 वर्ष पूर्व होती है जब शकों ने भारत पर आक्रमण कर लगभग सम्पूर्ण भारत पर कब्जा कर लिया था। छोटे–छोटे जनपदों में विभाजित भारत के अधिक हिस्से शकों के अधिन हो गये थे। सिन्ध, पंजाब, कश्मीर, अफगान, राजस्थान और गुजरात में उनकी सत्ता मजबूत हो गई थी। उत्तर और मध्यभारत के कुछ हिस्से भी उनके अधिन

हो गये थे ऐसे समय में भारतीय इतिहास के गौरव गंधर्वसेन के पुत्र वीर विक्रमादित्य का जन्म हुआ। सम्राट विक्रमादित्य का नाम विक्रमतेन था। कलयुग के 3000 वर्ष बित जाने के बाद 101 ईसा पूर्व विक्रमादित्य का जन्म हुआ था।

विक्रमादित्य के परिवार के सम्बन्ध में इस प्रकार विवरण प्राप्त होता है। उनके पिता का नाम गधर्वसेन (गर्दभिल्ल) था। माता का नाम सौम्यदर्शना था। पुत्री प्रियगुमंजरी या विद्योत्तमा, वसुन्धरा (दशर्णराज की रानी) सुन्दरी। इनके दो पुत्र विक्रमादित्यचरित और विनयपाल थे। इनकी पत्नियाँ मलयवती, मदनलेखा, पदिमनी तथा चेल्ल (चिल्लमहादेव) कलिंगसेना बन्द्रवती, मदनसुन्दरी सुरूपा, तारावली, गुणवती इत्यादि थी। इनका भाजा गोपीचंद इनके प्रसमुख चित्र जो इनके मंत्री भी थे, इनका नाम भट्टि और बहिसिन्धु थे। इनके सेनापति बिन्द्र इनका नाम गर्दभिल्ल अथवा प्रमर था। भविष्यपुराण के अनुसार विक्रमादित्य ने 100 वर्षों तक राज्य किया और ईसा से 57 वर्ष पूर्व विक्रम सम्वत् चलाया। विक्रमादित्य का विस्तार से वर्णन भविष्यपुराण व स्कन्दपुराण में प्राप्त होता है। पुरातात्विक प्रमाण के अभाव में सम्राट विक्रमादित्य को काल्पनिक चरित्र मान लिया गया था। लेकिन सदियों से पत्थरों के बीच स्पंदित होते सम्राट विक्रमादित्य के दिव्य शौर्य पराक्रम विराट देव सुशासन दैवीय गुणों के पुरातात्विक प्रमाण, सिक्कों और पात्रों के रूप में गढ़कालिका क्षेत्र से 1975 में मिली मुहर सहित पक्की मिट्टी की तीन मुहरों, सांदीपनि आश्रम में खड़े नन्दी, पिंगलेश्वर एवं शिवलिंगों पर विक्रम लिखा है। महिदपुर के अश्विनी शोध संस्थान व जयपुर के संग्रहकर्ताओं के पास 15 से ज्यादा ताँबे और सोने के सिक्कों, छिद्रयुक्त मुद्राओं में विक्रमादित्य का उल्लेख है। इसके अलावा मंदसौर के अंवलेश्वर के ईसवी पूर्व के शिलालेख, कसरावद से मिले पात्र, लाँधी से निले पुरावशेष, आध के आलमुरु के मंदिर के अध्ययन से महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ ने ऐसे 60 पुरातात्विक साक्ष जुटाकर कथा–कहानियों के सम्राट विक्रमादित्य के 2000 साल पुराने अस्तित्व को सिद्ध किया है। इसमें हमारे पद्मश्री पुरातत्वविद् स्व. श्री विष्णु श्रीधर वाकणकर, महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ के पूर्व निदेशक भगवतीलाल राजपुरोहित, विक्रम पर शोध करने वाले डॉ. रमन सोलंकी, पुरातत्वविद् विक्रम विश्वविद्यालय, अध्निनी शोध संस्थान के संस्थापक एवं निदेशक आर.सी. ठाकुर आदि की प्रमुख भूमिका रही है। इन्हीं पुरातात्विक प्रमाणों के प्रकाश में ज्योतिषीय दृष्टि से विक्रमादित्य का कालनिर्णय करते हुए ये प्रयास किया गया है कि किन प्रामाणिक ज्योतिषीय योगों के कारण विक्रमादित्य चक्रवर्ती सम्राट के रूप में स्थापित हुये। प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त के अर्हगण के अनुसार विक्रमादित्य का कालनिर्णय किया गया है, जो वैशाख शुक्ल तृतीया को 14 अप्रैल 101 ईसा पूर्व ज्ञात हुआ है। इसके अनुसार सम्राट विक्रमादित्य का कर्क लग्न और वृषभ राशि में जन्म हुआ है। इनके जन्मकाल के समय 4 ग्रह उच्च राशि के और 2 ग्रह स्वराशि के प्राप्त होते है, जो कि इन्हें चक्रवर्ती सम्राट बनाते है। हमने अभी तक विक्रमादित्य की कुण्डली में 6 राजयोग प्रामाणिक रूप से प्राप्त किये है, जो इस प्रकार है।

पंचमहापुरूष योग

मूलत्रिकोणिजतुंग गृहोपायता भूभज्ञजीसितभानुसुता बलिष्ठाः।
केन्द्रस्थिता यदि तदा रुचभद्रहंसगालव्यचारोषयोगकरा भवन्ति।।

अर्थात् – यदि बलवान मंगल मूलत्रिकोण, स्वगृह, उच्चगृह में प्राप्त केन्द्र में स्थित हो तो

'रूचक' योग होता है। ग्बुध हो तो भद्र योग होता है। बृहस्पति हो तो हंस योग होता है। शुक्र हो तो भालव्य योग होता है और शनि हो तो वर्ष योग होता है। विक्रमादित्य की कुण्डली में रुचक और शश नामक दो पंचमहापुरुष योग प्राप्त होते है। जिनका फल इस प्रकार है –

रूचक योगफल

जात श्रीरुचके बलान्वित्वपुः श्रीकीर्तिशीलान्वितः
शास्त्र मंत्रजपनिचारकुशलो राजाजथ्या तत्समः।
लवण्यारुणकान्तिकोमलतानुस्त्यगी जितारिर्पनि
सप्तत्यब्दमितागुषा सह सुखी सेनातुरंगाधिपः।।

अर्थात– रुचक योग में उत्पन्न होने वाला मनुष्य बलयुक्त शरीरवाला, कीर्ति और शील से युक्त, शास्त्री, मन्त्र के जप और अभिचार में कुषल, राजा या उसके सदृश धनी, सौन्दर्ययुक्त लाल कान्ति, कोमल शरीर, त्यागी, शत्रुजित, धनी और 70 वर्ष की आयु तक सुखी, सेना और घोड़ों से युक्त होता है।

शषयोगफल

भूपो वा सचिवो वनचलरतः सेनापतिः क्रूरधी–
तीर्वाद्विनोदवंचनपरि दाता सरोशेक्षणः।
वृद्धा निजमातृभक्तिनिरतः शूरोऽसितांगः सुखी
जात सप्ततिरायुरेति शशके ज्यक्रियाशीलवान्।।

अर्थात– शशयोग में उत्पन्न होने वाला पुरुष राजा या राजमंत्री हो, वन और पर्वत में रत सेनानायक, कुरबुद्धि, वग, दानी, रोशान्चित दृष्टि वाला, तेजस्वी,अपनी मातृभक्ति में निरत, पराक्रमी, श्यामांग सुखी होता है और सत्तर वर्ष आयु प्राप्त करता है।

चन्द्रकृत राजयोग

न्यूनोऽपि कुमुदबन्धुः स्वोच्चस्थः पार्थिवं करोति नरमरू।
किं पुनर्खंडमंडलकर्णिकरप्रकटितदिगन्तः।।

अर्थात–यदि कुण्डली में श्रीण भी चन्द्रमा उच्चराणि में हो तो जातक को राजा बना देता है। यदि परिपूर्ण भन्द्रगा उच्चस्व हो तो कहना ही क्या है।

सार्वभौम राजयोग

स्वगृहे मित्रगृहे स्वन्धे वा मित्रराशिषु।
कुर्वन्ति च नरं सुतौ सर्वभौमं नराधिपम्।।''

अर्थात् – यदि कुण्डली में समस्त ग्रह अपनी राषि में या मित्र के नवांश में या अपने नवाश में या मित्र राषि में हो तो जातक सार्वभौम राजा होता है।

अंषावतारयोग

केन्द्रगौ सितदेवेज्यौ स्वोच्चेगतेऽकंजे।
चरलग्ने यदा जन्म योगोऽयमवतारजः।।
पुण्यलोकस्तिरथचारि कलाज्ञः कामसक्तः कालकर्ता जीवात्मा।
वेदान्तज्ञो वेदशास्त्र अधिकारी जातो राजश्रीधरोऽशावतरे।।''

अर्थात् – यदि शुक्र और बृहस्पति केन्द्र में हो. शनैश्यर अपने उच्च का होकर केन्द्र में स्थित हो और चर लग्न में जन्म हो तो यह अंशावतारयोग कहा जाता है। अंशावतारयोग में उत्पन्न जातक पुण्यचरित्र वाला, तीर्थसेवी, कलावित् कामासक्त, जितेन्द्रिय, वेद के तत्व को जानने वाला, वेद और शास्त्र का अधिकारी और राज्यश्री वाला पुरुष होता है। इस योग पर अभी अनुसंधान जारी है।

हरि–हर–विधियोग

वित्तेशाधनरिःफरन्ध्रभवनप्राप्ताश्व सौम्यग्रहः,
कामेषात् सुखभाग्यरन्ध्रगृहगा जीवाब्जचन्द्रात्मजाः।
देहेषाद्यि बंधुमनभवगा सूर्यास्फुजिभूमिजाः
प्रोक्तास्तत्र पितृहरिहरब्रह्माख्यायोग इमे।

4/9/8 स्थानों में यथा सम्भव गुरु, चन्द्रमा और बुध हो तो हर योग होता है। लग्नेश से 4/10/11 स्थानों में यथा सम्भव सूर्य, शुक्र और मंगल हों तो ब्रह्म योग होता है ऐसा प्राचीन आचार्यों ने कहा है। इन तीनों हरि–हर तथा विधि योगों में उत्पन्न हुआ जातक सभी शास्त्रों को जानने वाला सत्यवादी, समस्त सुखों का भोगी, प्रियवादी, कामशील, सब शत्रुओं को जीतने वाला, सब जीवों का उपकारकर्ता तथा पुण्य कर्म करने वाला होता है। यहाँ पर हमें हरियोग प्राप्त होता है।

कर्कलग्न में सम्राट विक्रमादित्य का जन्म हुआ है। इस लग्न का फल ज्योतिष ग्रन्थों में इस प्रकार प्राप्त होता है –

कर्कलग्ने समुत्पन्नो धर्मि भोगी जनप्रियः।
मिष्ठान्नपानभोक्ता च सौभाग्यधनसंयुक्तः।।''

अर्थात कर्क लग्न में जन्म लेने वाला धर्मात्मा, भोगी, सबका प्रिय मधुर अन्नपान करोगी सुन्दर और धनवान होता है।

सूर्यसिद्धान्तिय अहर्गण के साधन के साथ अभी विक्रमादित्य के जोतिषीय दृष्टि से कालनिर्णय पर शोधकार्य निरन्तर जारी है, जो आगामी कुछ ही दिनों में उनकी प्रामाणिक जन्म तिथि जीवन की घटनाओं और मृत्यु आदि की तिथियों का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

विशेष उल्लेखनीय है कि चक्रवर्ती सम्राट महाराजा विक्रमादित्य के द्वारा चलाये गये विक्रम सम्वत् की उपेक्षा करके स्वाधीन भारत में राष्ट्रीय स्तर पर जो सम्वत् स्वीकार किये गये है वे भारत पर आक्रमणकारियों द्वारा चलाये गये है। पहला ईसवी सन् और दूसरा शक सम्वत्। यह बात अत्यन्त आपत्तिजनक है क्योंकि शक हमारे देश में आक्रान्ता के रूप में आये थे जिन्हें महान सम्राट विक्रमादित्य ने पराजित किया। भारत में विक्रमादित्य गुग परिवर्तन और नवजागरण के केन्द्र रहे हैं और विक्रम सम्वत् हमारी मूल्यवान धरोहर होने के साथ–साथ शक्ति और आत्म स्वाभिमान का भी प्रतीक है। अतः वर्तमान में विक्रम सम्वत् को राष्ट्रीय सम्वत् घोषित किया जाना उचित होगा। जैसा कि हमें ज्ञात है कि नेपाल में विक्रम सम्वत् राष्ट्रीय सम्वत् के रूप में मान्य है।

अखण्ड भारत के चक्रवर्ती सम्राट् विक्रमादित्य

• डॉ. रमण सोलंकी

अखण्ड भारत के चक्रवर्ती सम्राट् विक्रमादित्य को मध्यप्रदेश ही नहीं अपितु भारत सहित विश्व के अनेक देशों में सम्प्रतिकाल में भी याद किया जाता है। जनश्रुति के रूप में उनकी न्यायप्रियता यहाँ के लोकमान्य में प्रारंभिक काल से ही रही है। विक्रमादित्य से संबंधित अनेक पुरातात्विक अभिलेखीय, मुद्रा शास्त्रीय तथा साहित्यिक साहय प्राप्त होने लगे हैं, जिससे उनकी ऐतिहासिकता प्रमाणिक हुई हैं। विक्रमादित्य ने मालयांचल के स्वतंत्रता प्रेमी योद्धाओं के साथ उज्जयिनी से शकों का उन्मूलन कर 57 ई.पू. एक नये युग के प्रतीक कृत–सम्वत् प्रारम्भ किया था जिसे मालवों ने मालव–सम्वत् कहा और जो कालांतर में विक्रम सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विक्रमादित्य से संबंधित घटनाएँ कालकाचार्य कथानक के अतिरिक्त कथासरित्सागर, वेताल–पंचविशतिका सिंहात्तनद्वात्रिविशका, प्रबंधचितामणि, भविष्यपुराण (प्रतिसर्ग पर्व), स्कन्दपुराण के कुमारीका खण्ड में विद्यमान हैं इसके अतिरिक्त 11वीं शताब्दी में अलबरूनी ने अपने ग्रंथ किताब–उल–हिन्द में भी विक्रमादित्य की चर्चा रसायनाचार्य व्याडि के संदर्भ में कही है। एक स्थान पर उसने उल्लेख किया कि मैंने कश्मीर पंचांग में पढ़ा है कि श्री हर्ष (हर्षवर्धन) विक्रमादित्य के 664 वर्ष बाद हुआ था। इस उल्लेख के आधार पर विक्रमादित्य की तिथि का ज्ञान होता है। हर्ष के शासन का प्रारम्भ 606 ई. माना जाता है और 664 में से 606 घटा दिये

जाते तो 58 आता है। यह तिथि विक्रम सम्वत् की है. इससे स्पष्टतया विक्रमादित्य का शासन काल 58 ई.पू. निर्धारित हो जाता है। विक्रमादित्य के अस्तित्व को लेकर साहित्यिक प्रमाणों की विपुलता है। संस्कृत साहित्य में उससे संबंधित अनेक वर्णन प्राप्त होते है, जैसे– कथासरित्सागर व वृहत्कथामंजरी आदि। जैन परम्परानुसार कालकाचार्य कथानक से यह ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व पहली सदी में शकों (सीथियन) का मालवा पर आक्रमण हुआ था और उन्होंने उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल की हत्या करके उज्जयिनी पर चार वर्ष तक शासन किया। तत्पश्चात् गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने उन्हें खदेड़कर ईसा पूर्व 57 में अपना सम्वत् प्रारम्भ किया। विक्रम सम्वत् 57 ई.पू. प्रचलित हुआ, यह सर्वमान्य है। डॉ. राजबली पाण्डे की पुस्तक विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी जो कि 1954 में बनारस से प्रकाशित हुई थी, जिसकी पृष्ठ संख्या 103, 104 पर स्पष्ट है कि गर्दभिल्ल के पुत्र द्वारा शकों को परास्त कर उज्जयिनी को मुक्त कराने के उपरान्त उसके द्वारा स्मृति मुद्रा वनवायी गयी थी जिस पर ब्राह्मी लिपि में लेख अंकित करवाया गया। मालवनाम गणस्य जय। संभवतः यह विक्रमादित्ता का प्रथम पुरातात्विक प्रमाण हो सकता है।

विक्रमादित्य गर्दभिल्ल वंश में उत्पन्न मालवगण प्रमुख था। मालवगण की राजधानी उज्जयिनी थी तथा प्रथम सदी ईसा पूर्व में विक्रमादित्य उज्जयिनी में शासनरत था। उपरोक्त साहित्यिक प्रमाणों के साथ ही वर्तमान में ऐसे पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध हुए है, जिससे विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता, उसका तिथिक्रम सम्वत् तथा नाम संबंधी आदि घटनाओं की प्रामाणिकता की पुष्टि हुई है। शक शासकों को विक्रमादित्य ने पराजित किया तथा विजयोपरांत विजय उपलक्ष्य में सम्वत् प्रारम्भ कर वह विक्रम उपाधि से विभूषित हुआ था। उज्जयिनी में पद्मश्री डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर जी को मालव नाम गणस्य जय अक्षरांकित अनेक सिक्के प्राप्त हुए और उन्होंने उज्जयिनी का कृत विक्रमादित्य आलेख में स्पष्ट किया कि इस और भी विद्वानों को विचार करना चाहिए, क्योंकि यह मुद्रा पंजाब व अन्य स्थानों से भी प्रकाश में आयी है। रेपरान्, कार्लाईल, भण्डारकर, महेश कुमार आदि विद्वानों ने इसका काल प्रथम सदी ईसा पूर्व माना है। इस प्रकार अनेक मुद्राएँ अश्विनी शोध संस्थान महिदपुर के अध्यक्ष डॉ. आर. सी. ठाकुर के निजी संग्रह में है। शकारि विक्रमादित्य को लेकर यह एक महत्वपूर्ण प्रमाण इतिहास की दृष्टि से हमें प्राप्त हुआ जो विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को सिद्ध करके इतिहास में एक नवीन अध्याय जोड़ेगा। 1975 में विक्रम विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग के कर्मचारी को गढ़कालिका क्षेत्र से प्राचीन मुद्रा सील प्राप्त हुई थी। इस मुद्रा के पीछे उल्टी और बॉस की छिपटी का निशान था तथा उसे बाँधे हुए धागे का निशान था और सीधी और मध्य में मकार युक्त दण्ड वाला स्वस्तिमक चिह्न तथा चारों ओर शुंगकालीन ब्राह्मी लिपि में लेख अंकित था। इस मुद्रा का वाचन डॉ. वाकणकर द्वारा किया जाकर यह स्पष्ट हुआ था कि इस पर जो लेख है वह कतस उज्जयिनी है। इस आधार पर उन्होंने इसे रजोसिरी कतस उज्जयिनी माना। डॉ. वाकणकर ने यह माना कि यह मुद्रा कृत संवत्सर प्रारम्भ करने वाले उज्जयिनी के राजा की होगी जिसने शकों को पराजित करने पर विजय स्वरूप कृत संवत्सर और कृत का साथ–साथ उपयोग किया। शकहर्ता विक्रमादित्य एक ऐतिहासिक व्यक्ति था तथा उसकी प्राप्त यह मुद्रा उसके ऐतिहासिक अस्तित्व को प्रतिपादित करती है। यह मुद्रा डॉ. वाकणकर के निजी संग्रह में

भी आज वाकणकर शोध संस्थान उज्जैन में सुरक्षित रखी हुई है। एक महत्वपूर्ण पुरातात्विक प्रमाण के रूप में कावेरी शोध संस्थान के निदेशक डॉ. श्यामसुन्दर निगम के निजी संग्रह में प्रदर्शित है जो उन्हें क्षिप्रा नदी के रामघाट परिक्षेत्र में प्रस्तर शिल्पखण्ड के रूप में प्राप्त हुआ है। इसमें एक अश्व बना हुआ है और यह शिल्पखण्ड ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का है। इस शिल्पखण्ड की प्रामाणिकता तब सिद्ध हुई जब मध्यप्रदेश शासन द्वारा स्वराज संस्थान संस्कृति मंत्रालय के माध्यम से सन् 2009 में उज्जैन में महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ की स्थापना की गई। शोधपीठ के विद्वानों को अश्विनी शोध संस्थान के अध्यक्ष डॉ. आर.सी. ठाकुर ने विक्रमादित्य की एक स्वर्ण मुद्रा दिखाई जिसके एक और राजा की मुखाकृति तथा दूसरी ओर प्रथम शताब्दी ई. की ब्राह्मी लिपि तथा संस्कृत भाषा में महाराजा विक्रमादित्य उज्जयिनी लेखयुक्त अंकन होकर चैत्य हस्ती मध्य में वृक्ष और अश्व का अंकन है। इस मुद्रा पर अश्व का जो अंकन है वह अंकन डॉ. श्यामसुन्दर निगम के संग्रह में संग्रहीत शिल्पखण्ड जैसा ही है। यह एक महत्वपूर्ण पुरातात्विक प्रमाण विक्रमादित्य को चक्रवर्ती सम्राट के रूप में प्रस्तुत करता है। विक्रमादित्य को लेकर प्राप्त पुरातात्विक प्रमाणों की श्रृंखला बढ़ती गई और मंदसौर के समीप अवस्थित अवलेश्वर से प्रसिद्ध स्तम्भावशेष की चौकी के खण्ड भाग में ब्राह्मी अक्षरांकित विक्रमादित्य और दशपुर अक्षरों का वाचन डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित एवं डॉ. जगन्नाथ दुबे द्वारा किया गया है। यह स्थल राजस्थान पुरातत्व विभाग के अधीन है। प्राप्त पुरातात्विक प्रमाण के आधार पर प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व की ब्राह्मी लिपि अंकित अक्षरों का वाचन हो सका।

महिदपुर स्थित अश्विनी शोध संस्थान के अध्यक्ष डॉ. आर.सी. ठाकुर के निजी संग्रह में 100 से अधिक मिट्टी की मुहरें जिन पर कुतस, श्री विक्रमस, कतस उज्जयिनी मह, उज्जयिनी, राज्ञो एक देस मानेस कतस, हरभव विक्रम राज विकाड़ी लिपि में केत पाए गए है। इसी संग्रह में विक्रमादित्य नामांकित 100 में एक मुद्दा हुई है। जिस पर विक्रम परवतन्द्र कदर कतराज विक्रमादिमकित है। विक्रमादित्य के सभासद मूलदेव की सील मूल देवत्त अंकित भी इस संग्रह से प्राप्त हुई है। उज्जयिनी के प्राचीन इतिहास पर पिछले तीन दशकों में कुछ महत्वपूर्ण लिखे गये है। जिनमें सर्वप्रथम के.बी. डोंगरे लिखित इन टच विय उज्जैन (1936) था जिसमें नगर का स्कंदपुराण तिखण्ड वर्णित धार्मिक महात्म्य प्रतिपादित कर ज्योतिष शिक्षा विभिन्न राजकुलों के नगर शासन करने का सारांश का भी उल्लेख है। उज्जयिनी पर इस लघु पुस्तिका में परिचयात्मक पक्ष की धानिक महत्ता से उभारा गया था। लेफ्टिनेंट एडवर्ड कोनोली ने 1837 में आब्जर्वेशन ऑन उज्जैन (सयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल अक्टूबर 1837) लेख में महाकाल, हरसिद्धि अंकपात कालियादेह, सिद्धवट व रामजानकी मंदिर की प्राचीनता व पुरावर्णित उल्लेखों से इन संस्थानी तादात्म्य किया, तत्पश्चात् विमलाचरण ला की लघु पुस्तिका उज्जयिनी इन एसिएट इण्डिया 1944 प्रकाशित हुई। पौराणिक परम्पराओं के आधार पर वंशावली व यहाँ का धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीति इतिहास का निर्माण इस ग्रंथ में किया गया था। यह उज्जयिनी के इतिहास पर एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसमें सम्पूर्ण साहित्यिक स्रोतों का समावेश है। परन्तु पुरातात्विक प्रमाणों में केवल कुछ विहित मुद्राओं का तक्ष्य ही नगर इतिहास निर्मित के लिये प्रयुक्त किया गया। जबकि ग्वालियर राज्य के पुरातत्व विभाग 1936–39 में वैश्यटेकरी (मौर्यकालीन स्तूप) व कुम्हार टेकरी पर उत्खनन किये जा चुके में फिर भी उस ग्रंथ

में उत्खनन साक्ष्यों की सहायता नहीं ली गई थी। 1944 से 1948 तक सिथिया ओरिएन्टल इन्नटीयूट उज्जैन द्वारा विक्रमादित्य से संबंधित तीन च विक्रम–स्मृति–ग्रंथ (हिन्दी) विक्रम वाल्यूम (अंग्रेजी), विक्रम स्मृति (मराठी) में प्रकाशित हुए जिसने विक्रमादित्य संबंधी प्रश्नों को उठाया गया था। इसी समय विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी फाउण्डर ऑफ द विक्रम ग्रंथ लिये गये। जो 57 ईपू के काल में हुए विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता स्थापित करते है। 1957 में डॉ. सुर्वन्तरायण व्यास के संपादन में उज्जयिनी दर्शन ग्रंथ प्रकाशित हुआ जिसमें नगर से संबंधित विद्वान यहाँ की धार्मिक परम्पराएँ व दर्शनीय स्थलों का वर्णन किया गया था। विद्वानों ने उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य के पुरावशेषों पर अपनी लेखनी विभिन्न लेखों एवं पुस्तकों के माध्यम से उठाई है।

संदर्भ ग्रन्थ

- डॉ. राजबली पाण्डे, विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी, बनारस, प्रा. 103, 104, वर्ष–1954
- जे. एन. दुबे (सम्पादक), भारतीय अभिलेख, वाकणकर भारतीय अन्वेषण न्यारा, उज्जैन, पृ. 21, वर्ष–2006
- डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, आदि विक्रम्, स्वराज संस्थान संचालनालय, भोपाल
- डॉ. नरेन्द्र कोठारी, उज्जयिनी क्यांइस, बॉम्बे, रेशमबुक इंटरप्राईजेस, 1998
- डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, जगन्नाथ दुबे, विक्रमादित्य एवं पुरातत्व, महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, उज्जैन।

कालिदास के साहित्य में सांस्कृतिक भारत

• विजय कुमार परिहार

महाकवि कालिदास मालव गणतन्त्र के मुखिया, शकारि का वीरुद धारण करने वाले एव विक्रम सम्वत् के प्रवर्तक सम्राट् विक्रमादित्य के आश्रय में उन्होंने अपना समय व्यतीत किया था। इन शकारि विक्रमादित्य का शासनकाल ई.पू. प्रथम सदी था। अतः कालिदास भी निर्विवाद रूप से इसी समय हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास का सम्बन्ध दक्षिण के शुंग–सातवाहनों से भी रहा। जिस समय मालवा पर विक्रमादित्य का शासन था, दक्षिण के स्वामी शुंग थे। उनका मालविकाग्निमित्र नाटक इस तथ्य का पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण है। कालिदास द्वारा विचरित जिन कृतियों को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं उनकी सख्या सात है। उनमें ''मेघदूत तथा ऋतुसंहार, खण्डकाव्य, कुमारसंभव तथा रघुवंश महाकाव्य और मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तल'' नाटक कृतियाँ हैं। कालिदास की इन कृतियों में साहित्य की जिन नवीन रूप–विधाओं का सृजन हुआ उनकी सुरभि से भारत का साहित्याकाश सुरभित है। उनके द्वारा अतीतकालीन भारत के युग–युगों की संस्कृति नैसर्गिक रूप में अवतरित हुई। जिस प्रकार शेक्सपियर ने अपने नाटकों में तत्कालीन भौतिक तथा बौद्धिक उपलब्धियों को समायोजित किया है, उसी प्रकार कालिदास ने अपनी कृतियों में तत्कालीन भारत की सांस्कृतिक चेतनाओं को अत्यन्त विशद रूप में बड़ी सजीवता के साथ सन्दर्शित किया है। कालिदास इस रूप में

भारत के सर्वोच्च महाकवि हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी कृतियों में इस राष्ट्र की चिरन्तन सांस्कृतिक परम्पराओं को अत्यन्त सजीवता एवं मार्मिकता से गुम्फित गया है। रघुवंश के आरंभ में ही उन्होंने लिखा है कि रघुवंशियों में जो असामान्य गुण विद्यमान थे उन्हीं की प्रेरणा से मुझे इस महाकाव्य के प्रणयन की इच्छा हुई। भारतीय संस्कृति के उत्स रघुवंशियों के चरित्रों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है–वे रघुवंशिय शास्त्रानुमोदित नियमों के अनुसार यज्ञ करते थे। याचकों को उनका मनोवांछित फल देते थे। अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देते थे। समयोचित कार्य करते थे। दान के ही उद्देश्य से धन का संचय करते थे। सत्य की रक्षा के लिए कम बोलते थे। वे लूटमार, उत्पीड़न के लिए नहीं, अपितु अपने यश–विस्तार के लिए ही दूसरे देश पर विजय प्राप्त करते थे। वे भोग–विलास के लिए नहीं, अपितु सन्तति–जनन के लिए विवाह करते थे। वे बाल्यावस्था में अध्ययन करते थे, युवावस्था में सांसारिक भोगों का आनन्द लेते थे, वृद्धावस्था में मुनिजनों के समान अरण्यों में तप करते थे और अन्त में योग द्वारा परमेश्वर का ध्यान–चिन्तन करते हुए शरीर त्याग करते थे।

रघुवंश के अध्ययन से ज्ञात होता है कि रघुकुल के सभी राजाओं ने इस परम्परा का पूरी तरह से पालन किया। यही भारतीय संस्कृति का मूल है और इसी का दिग्दर्शन कालिदास की कृतियों में हुआ है। किसी कवि या रचनाकार की और विशेष रूप से ऐसे निष्णात साहित्य–स्रष्टा की कृतियों के अध्ययन से यह अवगत करना या ग्रहण करना अथवा निश्चित करना नितान्त कठिन कार्य है कि उसने जिन परिस्थितियों, जिस वातावरण या देश–काल की जिन दशाओं का वर्णन किया है, उसमें कितना अंश उसका स्वानुभूत है और कितना कल्पित या आनुमानित। इस दृष्टि से किसी रचनाकार की कृतियों से वास्तविकता को छाँटकर निकालना प्रायः दुष्कर होता है। यद्यपि विभिन्न साधनों एवं स्रोतों द्वारा उज्जीवित पूर्ववर्ती परम्पराओं को अपनी कल्पना–सृष्टि द्वारा स्वानुरूप बनाने में सभी कृतिकारों का प्रयत्न रहा है, तथापि प्रत्येक श्रेष्ठतम कृतित्व तभी चिरस्थायी एवं लोक सम्पूजित होता है, जबकि उसमें उसके रचनाकार की अनुभूतियाँ भी अनुस्यूत हो। इस दृष्टि से यदि कालिदास की कृतियों तथा कालिदासयुगीन भारत की सम–सामयिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाये तो बहुत से तथ्यों तथा वास्तविकताओं को खोज निकालना असम्भव नहीं है। कालिदास की कृतियों से तत्कालीन जन–जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से परिचय प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही उनके व्यक्तिगत जीवन के सूत्रों का भी पता लगाया जा सकता है। कालिदासयुगीन भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के परिचायक सा अनेक तथ्य उनकी रचनाओं में निहित है। ई.पू. दूसरी सदी के लगभग मौर्यों की महान् परम्परा प्राय क्षीण पड़ गयी थी। उसका उत्तराधिकार दक्षिण के आघ्र सातवाहनों ने उजागर किया हुआ था। किन्तु प्रतापी मौर्यों की क्षीणता के कारण मगध, पाटलिपुत्र और मथुरा आदि तत्कालीन ऐतिहासिक राजधानियों पर ग्रीकों का प्रभाव स्थापित होता जा रहा था। इस प्रकार के ग्रीक शासकों में देमित्रियस् (दिमित) और मेनांडर (मिलिन्द) के नाम प्रमुख है। धीरे–धीरे उनका प्रभाव पजाब–सिन्ध और मध्य–पश्चिम तथा उत्तर भारत में भी व्याप्त हुआ। तत्कालीन विद्या केन्द्र तक्षशिला, मगध तथा नालन्दा पर भी उनका अधिकार हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप आयुर्वेद तथा ज्योतिष आदि के विद्वानों पर ग्रीकों की परम्पराओं का प्रभाव प्रकाश में आने लगा।

ज्ञान–विज्ञान के अतिरिक्त स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला के इन तीनों क्षेत्रों में भी ग्रीकों की शिल्प–संरचना के नये रूप प्रकाश में आये। कालिदासकालीन भारत के सामाजिक जीवन का चित्रण करने वाली सामग्री उनके ग्रंथों में भरपूर रूप में विद्यमान है। भारतीय समाज व्यवस्था का ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में दो भाषाएँ प्रचलित थीं–संस्कृत और प्राकृत। उच्चकुलीन समाज में संस्कृत का प्रचलन था और स्त्रियाँ तथा दास–दासी– सेवक आदि प्राकृत का व्यवहार करते थे। वेद और उसके षडंगों का विधिवत् अध्ययन–अध्यापन होता था। तत्कालीन धार्मिक स्थिति का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि समाज में ब्राह्मणधर्म की प्रधानता थी। यज्ञ–हवन आदि कर्मों के निष्पादन का आधार स्मृतियाँ थीं। लगभग दूसरी सदी ई.पू. में मौर्य साम्राज्य के बौद्ध धर्मावलम्बी अन्तिम शासक बृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र शुंग ने ब्राह्मणधर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया था, जिसकी परम्परा शुगभृत्य आधों के समय, अर्थात् ई.पू. प्रथम शती तक अक्षुण्ण रूप में बनी रही। यद्यपि ब्राह्मणधर्म के अतिरिक्त बौद्धधर्म और जैनधर्म भी प्रचलित थे, तथापि अपनी अनीश्वरवादी प्रवृत्ति के कारण बौद्धधर्म का प्रभाव शिथिल पड़ गया था, जब कि जैनधर्म अपनी तप, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि सदाचारों एवं सुधारवादी प्रवृत्तियों के फलस्वरूप सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए था।

ब्राह्मण धर्म के इस पुनर्जागरण के कारण जहाँ एक ओर आर्यों तथा आर्येतरों में पारस्परिक समन्वय की भावना का उदय हुआ। वहीं दूसरी ओर ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों ब्राह्मण देवताओं का महत्व बढ़ने लगा। कालिदास स्वयं शैव थे, किन्तु विष्णु के प्रति भी उनकी वैसे ही गहन निष्ठा थी। उन्होंने सभी धर्मों, मतों और देवताओं का एक ही अन्तिम लक्ष्य बताते हुए रघुवंश में लिखा है कि जैसे गंगा की सभी धाराएँ अन्ततः समुद्र में जा मिलती हैं, उसी प्रकार परमानन्द को प्राप्त करने के जितने भी मार्ग या साधन विभिन्न शास्त्रों में नाना रूपों में निरूपित हुए हैं, उन सब का एक ही अन्तिम लक्ष्य में समन्वय हो जाता है।

कालिदास की कृतियों में यद्यपि तत्कालीन भारत की आर्थिक स्थिति पर विशेष रूप से प्रकाश नहीं डाला गया है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में आर्थिक विषमता नहीं थी। सारा समाज अपने–अपने उद्यम एवं नियत कर्मों के अनुसार उपार्जन करता हुआ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। देश में परम्परानुगत कृषि कार्य की प्रधानता थी। कृषि से जौ, धान, तिल, दाल, मसाले आदि पदार्थ यथेष्ट मात्रा में उत्पन्न होते थे। दूध, घी, शक्कर, गुड़ तथा मधु आदि की कमी नहीं थी। पशु धन उस युग की सुदृढ़ अर्थव्यवस्था का आधार था। देश के आर्थिक जीवन के स्रोत छोटे–बड़े उद्योग–धंधे पर्याप्त उन्नति पर थे। सूती, रेशमी तथा महीन मलमल के वस्त्रों के निर्माण में देश सर्वतोभावेन सम्पन्न था। भेड़–बकरियों के पालन और उनके ऊन से वस्त्रोद्योग की स्थिति उन्नत थी। धातु–उद्योग भी स्थापित थे। कताई बुनाई–जड़ाई–कढ़ाई आदि की गृह–कलाएँ प्रगति पर थीं। काष्ठ कार्य बहुत आगे बढ़ा हुआ था। लोहार, सुनार तथा बढ़ई आदि शिल्पियों की स्थिति उन्नत थी। जल और स्थल मार्गों से द्वीपान्तरों के साथ भारत के व्यापारिक संबंध सुदृढ़ थे। हाथीदाँत, सुवर्ण, रजत आदि विभिन्न प्रकार के मणि–माणिक्यों का व्यापार होता था।

अभिज्ञान शाकुन्तल में ऐसे सार्थवाह (कारवों) का उल्लेख हुआ है, जो समुद्र मार्ग से यात्रा करता था। उस युग में उज्जयिनी की देश के प्रमुख व्यापार–केन्द्रों में परिगणना थी।

कालिदास ने चीनांशुक का उल्लेख किया है, उससे ज्ञात होता है कि इस प्रकार के मूल्यवान रेशमी वस्त्रों का चीन से आयात होता था, किन्तु भारत भी इस दृष्टि से उन्नत था। देश में महीन मलमल का निर्माण होता था, जिसकी द्वीपान्तरों में बड़ी खपत थी। रोम, चीन, बाली, जावा, सुमात्रा और श्रीलंका से विशेष व्यापारिक सम्बन्ध थे।

कालिदास सौन्दर्य एवं प्रणय के कवि थे। जड़–चेतन, प्रकृति मानव, समस्त चराचर में सर्वत्र ही उनकी दृष्टि सौन्दर्य एवं प्रणय पर ही केन्द्रित रही है। उनकी यह सौन्दर्यानुभूति सर्वथा निजी है। उसमें व्यापकता है। प्रकृति में व्याप्त अथाह सौन्दर्य को मानवीय सौन्दर्य में अवतरित कर उन्होंने उसके विभिन्न पक्षों का अत्यन्त मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। कालिदास ने सौन्दर्य की परिणति प्रेम में दिखायी है। उनकी दृष्टि से यह प्रेम चाहे प्रकृतिजन्य हो या मानवजन्य अकारण ही नहीं हो जाता, अपितु उसके मूल में पूर्वजन्म के सुकृत विद्यमान रहते हैं और बिना प्रेरणा तथा योजना के मन उधर आकृष्ट नहीं होता। अभिज्ञान शाकुन्तल में उन्होंने प्रेम की इस स्थिति का सुन्दर चित्रण किया है। कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में पार्वती का चित्रण करते हुए कालिदास ने सौन्दर्य की सुष्ठु, मनोहर एवं सयत अवस्थाओं का वर्णन किया है। पार्वती के रमणीय आनन पर हास्य रेखा का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है यदि जूही की कलियों चुनकर अरुण वर्ण कोमल किसलयों पर सजाकर रख दी जाये या लाल–लाल मूंगों पर मोतियों के दाने तरतीब से बैठा दिये जाये, तब कहीं जाकर पार्वती के अरुण अधरों पर खेलने वाली मुस्कुराहट की उपमा दी जा सकती है। कालिदास ने प्रेम की अनेक कोटियों का व्यापक चित्रण अपने ग्रंथों में किया है। अपनी प्रिया से सुदूर विदेश में जीवन–यापन करने वाले यक्ष का प्रणय निवेदन जितना कवित्वमय है, उतना ही यथार्थ भी।

कालिदास की यह सौन्दर्य भावना उनके उदात कविकर्म को अभिव्यक्त करती है। उनके कवित्व में सर्वत्र ही उनकी सौन्दर्य भावना के दर्शन होते हैं। वियोग, संयोग, करुण, शान्त आदि वर्णनों में प्रकृति, मानव, कला, संस्कृति आदि सभी सन्दर्भों में कालिदास की रुचिर सौन्दर्य भावना सर्वत्र दर्शित है। तत्कालीन समाज में मनोरंजन के अनेक साधन विद्यमान थे। मुख्य रूप से नृत्य, संगीत, चित्रकारी, आखेट, जलक्रीड़ा, अक्षक्रीड़ा और सुरापान गोष्ठियों का समाज में व्यापकता से प्रचलन था। विभिन्न त्यौहारों तथा उत्सवों पर भिन्न–भिन्न क्रीड़ा–कौतुकों का आयोजन होता था। प्रमदवनों में पुष्प–उत्सव मनाया जाता था। उस समय दोलाधिरोण तथा अपानक गोष्ठियों का विशेष आयोजन होता था। यद्यपि मास–विक्रय तथा मदिराजीवी होना निषिद्ध था। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि आखेट करना और मदिरापान आम लोगों में प्रचलित था। रघुवंश में इन्दुमती अज को मदिरापान कराती है। मालविकाग्निमित्र की इरावती मद्यपायी है। कुमारसंभव में शंकर स्वय मदिरापान करते हैं और उसमें पार्वती जी को भी सम्मिलित करते है। अभिज्ञान शाकुन्तल में नागरिक और सैनिक दुकान पर बैठकर मदिरापान करते हैं।

कालिदास की कृतियों में सामाजिक जीवन की सौंदर्यप्रियता का विशद् चित्रण हुआ है। तत्कालीन समाज द्वारा धारण किये जाने वाले वस्त्राभूषणों और नाना प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनों का कालिदास के प्रायः सभी ग्रन्थों में वर्णन हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि वस्त्र उद्योग तब अपनी उन्नतावस्था में था। कताई बुनाई–जड़ाई–कढ़ाई कला में भी पर्याप्त अभिज्ञता थी। विभिन्न उत्सवों में तदानुरूप नाना प्रकार के वस्त्रों को धारण किये जाने का प्रचलन था। इसी

प्रकार ऋतुओं के अनुकूल भिन्न–भिन्न वस्त्र धारण किये जाते थे। पुरुषों के वस्त्रों में पगड़ी (वेष्टन), दुपट्टा (दुकूल) और धोती प्रमुख थे। सम्पन्न लोग रत्नजटित उत्तरीय धारण करते थे। स्त्रियों के वस्त्रों में धोती और चोली (कंचुक या कूर्पासन) की प्रमुखता थी। नीचीबन्ध (करधनी) धारण करने का भी सामान्य प्रचलन था। ब्रह्मचारियों द्वारा वत्कल, वानप्रस्थियों द्वारा गेरुवा और सन्यासियों द्वारा मृगचर्म धारण किये जाते थे। वस्त्रों की ही भाँति समाज में विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करने की अभिरुचि थी। स्त्रियों के शिर के आभूषणों में चूड़ामणि तथा मुक्ताजाल प्रमुख थे। वेणीबन्ध को रत्न–पुष्पों से अलंकृत करने में स्त्रियों की विशेष अभिरुचि थी। इसी प्रकार कानों में कुण्डल या कर्णपूर, गले में स्वर्ण–सिक्कों की मालाएँ, कलाइयों में चूड़ियों, बाहुओं में भुजबन्ध और अँगुलियों में अँगूठियाँ धारण किये जाने का प्रचलन था। करधनी और नूपुरों को धारण करने की अभिरुचि प्रायः सर्व सामान्य में थी। राजाओं के सिर पर रत्नजटित किरीट और गले में मुक्ताहार हुआ करते थे। सौन्दर्यानुरागी तत्कालीन समाज में केश विन्यास के विभिन्न ढंग प्रचलित थे। स्त्रियों कलात्मक वेणियों गूँथती और उन पर मुक्तापुष्प पोहती थीं। सिर में मांग भरने (सीमान्त) की प्रथा का व्यापक प्रचलन था। स्त्रियों की ही भाँति पुरुष भी बाल बढ़ाते और दाढ़ी–मश्रु रखते थे। बालकों के (काकपक्ष) का व्यापक प्रचलन था। शरीर की शोभा तथा सुन्दरता की अभिवृद्धि के लिए विभिन्न प्रकार के प्रसाधनों का उपयोग किया जाता था। फूलों की मालाएँ धारण करने में पुरुषों की विशेष अभिरुचि थी। इसी प्रकार पुष्पालंकरणों द्वारा वेणियों को सज्जित करने में स्त्रियों का विशेष अनुराग था। मुख को तथा अधरों को रंगने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रसाधनों का उपयोग होता था। अंगराग तथा उबटन के लिए कालापक, कालागुरु तथा चन्दन का प्रयोग होता था। आँखों पर अंजन–रचना और कपोलों पर बिन्दु–रचना का भी प्रचलन था।

कालिदास की कृतियों में तत्कालीन भारत के कलानुराग की विपुल सामग्री सुरक्षित है। उस युग में स्थापत्य, चित्र, मूर्ति, नृत्य संगीत और वाद्य आदि विभिन्न कलाएँ सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी थीं। कलाओं का अध्ययन–अध्यापन तत्कालीन शिक्षा के अनिवार्य विषय थे। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास स्वयमेव इन कलाओं में दक्ष थे। कालिदास ने विभिन्न घरों, महलों, द्वारों और भित्तियों पर अंकित भित्तिचित्रों का उल्लेख किया है। रघुवंश के सोलहवें सर्ग में विध्वस्त अयोध्या नगरी का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है कि वहाँ के प्रासादों की भित्तियों पर नाना भाँति के पद्मवन चित्रित थे, जिनके बीच में बड़े–बड़े हाथियों को दर्शाया गया था। उन हाथियों के साथ उनकी हथनियाँ कमल की नाल देती हुईं अंकित की गयी थीं। ये चित्र इतने सजीव थे कि उनमें चित्रित हाथियों को (आज की विध्वस्तावस्था में भी) वास्तविक हाथी समझकर वहाँ के सिंहों ने अपने नाखूनों से उनका गण्डस्थल विदीर्ण कर दिया था। वहाँ के विशाल महलों में जो लकड़ी के स्तम्भ गढ़े हुए थे उन पर मनोहर मूर्तियाँ उत्कीर्णित थीं और उनमें रंग भरा हुआ था। ये दारु–मूर्तियाँ रंगों के उड़ जाने से फीकी पड़ गयी थीं। अब तो सौंपों की छोड़ी हुई केचुलें ही उनके वक्षस्थल के आवरण योग्य दुकूल का कार्य कर रही थीं। इस विध्वस्त नगरी का कुश ने पुनरुद्धार किया और उसको पूर्ववत् कला–उपकरणों द्वारा सुसज्जित किया था। कालिदास ने इसी सन्दर्भ में लिखा है कि जिस प्रकार इन्द्र की आज्ञा से बादल जल बरसाकर गर्मी से उत्तप्त पृथ्वी को हरी–भरी कर देते हैं उसी प्रकार समाद कुश

द्वारा नियुक्त शिल्पियों ने प्रपुर उपकरणों द्वारा उस दुर्दशाग्रस्त नगरी की काया पलट कर दी थी–

ता शिल्पिसन्धः प्रभुना नियुक्तस्तथागतां संभृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचगुरुपा विसर्गात् मेधा निदाघग्लपितामिवीर्तिम्।।

इसी प्रकार तत्कालीन समाज में शिल्पियों के पृथक संघों का निर्माण हो चुका था, जो कि अपनी कला में इतने दक्ष थे कि अयोध्या नगरी को उन्होंने यथावत् बना दिया था। उस युग में स्त्री–पुरुष दोनों चित्रांकन करते थे। चित्रों द्वारा अपने प्रेमियों को प्रेम सन्देश प्रेषित किये जाते थे। वियोग की व्यथा को कम करने के लिए भी नायक–नायिका एक–दूसरे के चित्र बनाकर मन बहलाया करते थे। उदाहरण के लिए विरहिणी यक्षिणी द्वारा अंकित उसके प्रवासी पति यक्ष का चित्र उल्लेखनीय है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यन्त ने अपने विरह–व्यथित मन की शान्ति के लिए शकुन्तला का चित्र तैयार किया था। यही नहीं, चित्रों द्वारा विवाह निश्चित होते थे। विभिन्न देवी–देवताओं के चित्र बनाकर उनकी पूजा–अर्चना की जाती थी। चित्र मंगलसूचक समझे जाते थे। मालविकाग्निमित्र में मालविका का मनमोहक चित्र देखकर विदिशा का राजा अग्निमित्र विमुग्ध हो गया था। उसकी अपनी विशाल चित्रशाला और संगीतशाला थी। एक संगीत प्रतियोगिता में गणदास की शिष्या मालविका की, विजय हुई थी। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था, उसके सम्बन्ध में कालिदास ने लिखा है कि चित्रगत होते हुए भी वह छवि इतनी सजीव जान पड़ती थी कि मानो अभी, इसी क्षण, बोल पड़ेगी। चित्रकला की ही भाँति नृत्य–संगीत का भी तत्कालीन समाज में व्यापक प्रचलन था। लोक–जीवन से लेकर नागरिक जीवन तक उसका प्रचार–प्रसार था। ईख के खेतों में कार्यरत ईख की छाया में विश्राम करती हुई कृषक युवतियों को कालिदास ने रघु की दिग्विजय के गीत गाते हुए दर्शाया है। तत्कालीन लोक–जीवन में परम्परागत वीरगाथाओं तथा प्रणयकथाओं के गीत प्रचलित थे। मालविकाग्निमित्र में शास्त्रीय संगीत की विस्तार से चर्चा हुई है। इसी प्रकार 'मेघदूत' की यक्षपत्नी वीणावादन के साथ वियोग के गीतों को गाती हुई अपने मन का भार हल्का करती हुई दिखायी गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजाओं के यहाँ नृत्य–संगीत की शिक्षा के लिए संगीत शालाओं तथा नाट्यगृहों की विशेष रूप से व्यवस्था थी। वहाँ सुविज्ञ आचार्यों की नियुक्ति होती थी और वे समय–समय पर दर्शकों को अपने कौशल को दिखाकर चकित करते थे। गणिकाएँ और देवदासियाँ भी नृत्य–संगीत में दक्ष हुआ करती थीं। चित्रकला और नृत्य–संगीत के अतिरिक्त मूर्तिकला का भी तत्कालीन समाज में प्रचलन था, जिसके संकेत कालिदास के ग्रन्थों में मिलते हैं। 'कुमार–सम्भव' में शिव–पार्वती के विवाह–प्रसंग में चवरधारिणी गंगा तथा यमुना की मूर्तियों का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में शिशु भरत को खेलने के लिए मृत्तिका का रंगीन मयूर दिया गया था। कालिदास के ग्रन्थों में उल्लिखित कला–विषयक सामग्री की समीक्षा वस्तुतः एक स्वतन्त्र विचारणा का विषय है।

सौन्दर्य एवं कला के महाग्रन्थ

• संजय कुमार पाण्डेय

वैदिक भारत के कलानुराग का दिग्दर्शन रामायण और महाभारत में हुआ है। ये दोनों ग्रन्थ वस्तुतः वैदिक परम्परा और तत्कालीन जन–जीवन के दर्पण हैं। इससे पूर्व काव्य को कला का ही एक अंग माना जाता था। इन दोनों बच्चों के द्वारा काव्य की स्वतन्त्र विधा की स्थापना हुई। इन दोनों महाग्रन्थों के मूल कथासूत्रों का निर्माण यद्यपि वैदिक और लौकिक युग के संधिकाल में हो चुका था, किन्तु 600–500 ई. पूर्व तक उनमें निरन्तर परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन होते रहे। अपने–आप में एक प्रकार से वे विश्वकोश हैं, जिनमें इतिहास, पुराण, काव्य और महाकाव्य आदि अनेक विषयों का एक साथ समावेश हुआ है। समस्त भारतीय साहित्य पर और विशेष रूप से संस्कृत–साहित्य पर उनके प्रभाव की छाप अंकित है। संस्कृत के परवर्ती कवि–मनीषियों ने उनके कथासूत्रों से प्रेरणा तथा उपादान ग्रहणकर नयी–नयी कृतियों द्वारा साहित्य के भण्डार को भरा। इस रूप में उनको संस्कृत–साहित्य का उपजीव्य कहा गया है और इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों ने उनको 'एपिक विदिन एपिक' कहा है। अपनी महानताओं के कारण आज वे विश्व की सर्वोच्च कृतियों में परिगणित होते हैं। यहाँ उनका विश्लेषण साहित्यिक दृष्टि से नहीं, अपितु उनके द्वारा प्रासंगिक रूप में तत्कालीन भारत की कला और संस्कृति की जो विरासत सुरक्षित रही, इस दृष्टि से अभिप्रेत है। इस दृष्टि से यदि इन दोनों ग्रन्थों का

अध्ययन–अनुशीलन किया जाये, तो ज्ञात होता है कि तत्कालीन (600–500 ई. पूर्व) भारत सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, कलानुरागिता की दृष्टि से भी उन्नति पर था। कला के प्रमुख तीनों अंगों चित्र, वास्तु और स्थापत्य का अनेक उपांगों में पूर्ण विकास हो चुका था। रामायणकालीन समाज कला के प्रति अत्यन्त अनुरक्त प्रतीत होता है। रामायण के बालकाण्ड के छठे सर्ग में महामुनि वाल्मीकि ने अयोध्यावासियों के वर्णन–सन्दर्भ में उनकी कलानुरागिता तथा सौन्दर्यप्रियता का भी अच्छा दिग्दर्शन किया है। वहाँ के निवासियों के सौन्दर्य प्रसाधनों, केशसज्जा, अंगराग, चित्र–विचित्र वस्तुओं का व्यवहार, स्त्रियों के कपोलों पर पत्रावली–रचना, राजप्रासादों, गृहों, रथों की सज्जा, पशुओं को अलंकृत करने की प्रवृत्ति, नगरों तथा उद्यानों की सुन्दरता के प्रति अभिरुचि और उत्सवों, त्योहारों का आयोजन आदि का हृदयग्राही वर्णन करते हुए महामुनि ने रामायणकालीन समाज की सुरुचि का सुन्दर चित्रण किया है। परम्परानुगत मान्यताओं के अनुसार 'रामायण' में कलाओं को शशिल्प के अन्तर्गत परिगणित किया गया है और इस सन्दर्भ में गीत, नृत्य, वाद्य तथा चित्रकर्म आदि ललित कलाओं का उल्लेख किया गया है। वहाँ शिल्पकार की उदात्त प्रशस्ति गायी गयी है। तत्कालीन समाज के कलानुराग के प्रभाव से राम भी प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। इसका सहज अनुमान उस प्रसंग को देखकर होता है, जिसमें महामुनि ने राम को संगीत, वाद्य तथा चित्रकारी आदि मनोरजक शिल्पों के ज्ञाता के रूप में वर्णित किया है। भारत में मूर्ति–निर्माण की परम्परा के समुन्नत मूर्त प्रमाण सिन्धु सभ्यता के अवशेषों द्वारा प्रकाश में आ चुके हैं। परवर्ती युगों पर उसका प्रभाव व्यापक रूप से परिलक्षित होता रहा।

रामायणकालीन भारत में शिल्प–विधान का सुन्दर उदाहरण सीता की वह सुवर्ण प्रतिमा थी। जिसको राम ने अश्वमेधयज्ञ के अवसर पर निपुण शिल्पियों द्वारा निर्मित कराया था। सीता की इस सजीव प्रतिमा के निर्माता का नाम मय था। रामायणकालीन भारत में स्थापत्य कला भी अपनी परमोच्च स्थिति पर थी। दानवों के स्थपति और भारतीय शिल्प कला के जनक विश्वकर्मा उसी युग में हुए थे। इसलिए अन्य कलाओं के अतिरिक्त भवन–निर्माण का कार्य भी उस युग में चरमोत्कर्ष पर था। उस युग के भवनों की विधा के परिचायक प्रासाद, विमान, हार्म्य और सौध आदि के विभिन्न भेदों का पता भी 'रामायण' से चलता है। उस युग में सप्तभौम्, अष्टभौम और सहस्रस्तम्भ आदि विशिष्ट एवं विशाल राजभवनों के विद्यमान होने का प्रमाण मिलता है। इसी प्रकार स्थों की साज–सज्जा के लिए उपयोग में लायी जाने वाली सुवर्ण–प्रतिमाओं का निर्माण तत्कालीन शिल्पियों के अद्भुत कौशल का द्योतन करती है। रत्नों की आभा से दीप्त, हेममणियों से विभूषित, वैदूर्यमणि, चाँदी तथा मूँगे से, पक्षियों से अलंकृत, भाँति–भाँति के रत्नसर्पों से सुसज्जित और मणिमय, सीधे–चिकने हीरों, मोती, मूंगों और चाँदी–सोने आदि के अलंकरणों से परिमण्डित लंकापति रावण का पुष्पक विमान वस्तुतः उस युग के शिल्पकारों के अद्भुत कौशल एवं गहनतम साधना का अपूर्व उदाहरण था।

रावण का यह पुष्पक विमान न केवल प्राचीन भारत की वैज्ञानिक प्रगति का सूचक था, अपितु जैसा कि उसका वर्णन हुआ है, वह भारतीय कला का अनन्य नमूना था। देववाणी संस्कृत को वैदिक परम्पराओं से लोक–जीवन में अवतरित करने का सर्व प्रथम श्रेय महामुनि वाल्मीकि की छन्दोमयी वाणी को ही दिया गया है। जब वे रामायण की रचना कर रहे थे, तभी उसको

लोकगोचर करने का कार्य उन्होंने लव–कुश को सौंपा। ये दोनों भाई स्वरज्ञान से सम्पन्न (स्वर–सम्पनौ) थे। उन्हें शास्त्रीय संगीत की विधिवत शिक्षा महामुनि से ही प्राप्त हुई थी। उन्होंने वीणावादन के साथ महिमामयी राम–कथा को लोक–प्रचारित किया। रामायण' में संगीत के अतिरिक्त नृत्य–नृत्त लास्य और रग या रंगमंच आदि विभिन्न ललित कलाओं के प्रचलन का भी प्रमाण मिलता है। 'रामायण' में भित्तियों, कक्षों, रथों और राजभवनों पर चित्रांकित करने के सम्बन्ध में प्रचुर प्रमाण मिलते हैं।

रामायण के उत्तरकाण्ड में बताया गया है कि उस विमान में दृष्टि और मन को मोहित कर देने वाले और आश्चर्य में डाल देनेवाले नाना भाँति के दृष्य अंकित थे। उसके कक्षों (अगल–बगल) में उसकी शोभा का उत्कर्ष बढ़ाने वाले अनेक बेलबूटेदार चित्र अंकित थे। इन प्रमाणों से निश्चित ही भारतीय चित्रकला के समृद्ध इतिहास का पता चलता है। रामायण के सुन्दरकाण्ड और लंकाकाण्ड इस दृष्टि से विशेषतः अध्ययनीय हैं। लंकाधिपति रावण अद्‌भुत वीर और विद्वान होने के साथ–साथ कला का भी अत्यन्त अनुरागी था। उसके कलाप्रेम के अनेक उदाहरण उक्त दोनों काण्डों के विभिन्न सन्दर्भों में देखने को मिलते हैं। लंकापुरी में सीता की खोज करते समय हनुमान को वहाँ एक चित्रशाला और चित्रों से सुसज्जित अनेक क्रीड़ागृह देखने को मिले थे। रामायण में उल्लिखित चित्रशालागृहाणी से प्रतीत होता है कि उस समय चित्रों का इतना प्रेम था कि स्वतन्त्र चित्रशालाओं की स्थापना होने लगी थी। रावण की चित्रशाला तत्कालीन भारत की प्रमुख चित्रशालाओं में से एक थी। ये चित्रशालाएँ व्यक्तिगत, सामाजिक और राजकीय रूपों में अनेक प्रकार से विद्यमान थीं। चित्र–सज्जित रानी कैकेई के राजप्रासाद के वर्णन से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चित्रकला के प्रति उसकी बही अभिरुचि थी। बाली और रावण की मृत्यु के उपरान्त उनके शव ले लाने के लिए जो पालकियों बनायी गयी थीं उनमें की गयी चित्र–सज्जा का अद्‌भुत वर्णन रामायण में देखने को मिलता है। चित्रकला के प्रति समाज का इतना अधिक अनुराग था कि हाथियों के मस्तिष्क और रमणियों के कपोलों पर आकर्षक चित्र–रचना की जाती थी। अन्य भी अनेक उदाहरण हैं। सीता को भ्रम में डालने के लिए रावण ने अपने विद्यज्जित्र नामक चित्रकार को, जो उसका युद्धसचिव भी था, राम के सिर और राम के धनुष की छद्‌म आकृति बनाने का आदेश दिया था। चित्रलिखित कृत्रिम सिर और धनुष–बाण सीता के सामने यह प्रमाणित तथा विश्वास दिलाने के लिए रखा गया था कि युद्ध में राम की मृत्यु हो गयी। यद्यपि सीता इस छदम से बच गयीं, फिर भी राम के निधन की इस आकस्मिक घटना पर उन्होंने बड़ा विलाप किया। यह विधज्जित्र के कौशल का ही परिणाम था। 'रामायण' की तुलना में महाभारत में शिल्प तथा कला विषय पर बहुत कम चर्चा हुई है। उसका कारण राष्ट्रव्यापी अशान्ति और अस्थिरता थी। महाभारतकालीन भारत की स्थिति ऐसी नहीं थी, जिसमें कला, मनोविनोद और उल्लास–उत्सव जैसी वृत्तियों के संर्द्धन को प्रोत्साहन मिलता। चित्रकला के सम्बन्ध में तो प्रायः सारा 'महाभारत' मौन है। उस युग में शिल्प तथा कला के क्षेत्र में जो भी कार्य हुआ उसका श्रेय ग्रीकों को दिया जा सकता है। ग्रीक जब पहले–पहल भारत में आये तो उन्होंने भवन–निर्माण की ओर अपनी सक्रियता दर्शित की। तब उच्च भवनों क निर्माण के लिए लकड़ी तथा मिट्टी से काम लिया जाता था। दुर्योधन ने पाण्डवों के लिए जिस लाक्षागृह को बनाने का आदेश दिया था वह मिट्टी तथा लकड़ी का ही था।

इस उदाहरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महाभारत काल में बड़े लोगों के रहने के लिए लकड़ी–मिट्टी के घर होते थे। स्थापत्य की दृष्टि से पाण्डवों का सभा–भवन उल्लेखनीय है। उसका निर्माण मयासुर ने किया था। इस सभा भवन के अद्‌भुत वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि सौति की वह कल्पना मात्र थी। किन्तु उसमें वास्तविकता थी। सम्प्रति इसके प्रमाण भी उपलब्ध हो गये हैं। मय, असुर जाति का महान् शिल्पी था। इसीलिए महाभारतकाल के स्थापत्य के सम्बन्ध में सहज ही यह धारणा बनती है कि इस प्रकार की अनन्य इमारतों को बनाने में असुर अथवा फारसी या पश्चिमवासी यवन ही सक्षम थे। कुछ दिन पूर्व पाटलिपुत्र (पटना) की खुदाई से प्राचीन भवनों को खोज निकालने का जो प्रयत्न किया गया था उसके परिणामस्वरूप वहाँ से चन्द्रगुप्त की अनेक स्तम्भों वाली सभा के अवशेषों का पता चला है। विद्वानों का अनुमान है कि दरायस नामक एक फारसीवासी बादशाह ने पर्सिपुलिस में जो स्तम्भगृह बनवाया था उसी नमूने और लम्बाई–चौड़ाई का सभागृह चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र में अपने लिए बनवाया था। फारस के बादशाह द्वारा निर्मित उक्त सभागृह आज भी अपनी अच्छी स्थिति में वर्तमान है।

आधुनिक विद्वानों का यह भी अभिमत है कि दिल्ली के दीवाने–आम के निर्माण में भी फारस के प्राचीन सभागृह का प्रभाव है। महाभारत में महाराज युधिष्ठिर के अद्‌भुत सभा–भवन का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि उसमें अनेक स्तम्भ थे। उसमें स्थान–स्थान पर सुवर्णवृक्ष निर्मित किये गये थे। उनके चारों ओर एक बड़ा परकोटा था। सभा–भवन के द्वार पर हीरा, मोती आदि रत्नों से जटित तोरण लगाये गये थे। सभागृह की दीवारों पर भाँति–भाँति के चित्र अंकित थे और उनमें अनेक पुतले चित्रित किये गये थे। सभा के भीतर एक ऐसा चमत्कार दिखाया गया था कि उसके बीच में एक सरोवर बनाकर उसमें सुवर्ण के कमल लगाये गये थे। कमललता के पत्ते इन्द्रनीलमणि के बनाये गये थे। विकसित कमलों की शोभा पद्मरागमणि की भाँति थी। सरोवर में नाना भाँति के रत्नों की सीढ़ियाँ थीं। उस जलाशय में जमीन का भारा होता था। बगल में मणिमय शिलापद होने के कारण पुष्पकरिणी के किनारे खड़े होकर प्रत्येक देखने वाले को ऐसा प्रतीत होता था कि आगे भी ऐसी ही मणिमय भूमि है, किन्तु आगे बढ़ते ही दर्शक पानी में गिर जाता था। श्दीवार में जहाँ दरवाजा बना दिखायी देता था, वहाँ पर वस्तुतः दरवाजा नहीं था और जहीं नहीं दिखाई देता था, वहीं पर दरवाजा बना था। ऐसे ही एक स्थान पर दुर्योधन को भ्रम हो गया था और वह धोखे में आने से न बच सका था। एक जगह स्फटिक भूमि बनाकर उसमें ऐसा कलात्मक चमत्कार दिखाया गया था कि वहाँ पानी होने का आभास होता था। एक अन्य स्थान पर स्फटिक के हौज में पानी भरा हुआ था, किन्तु उसमें स्फटिक का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण ऐसा प्रतीत होता था कि वहाँ पानी नहीं है। एक अन्य स्थान में दीवार में ऐसा चित्र खींचा गया था, जिससे ऐसा आभास होता था कि दरवाजा खुला हुआ है। किन्तु उसमें प्रवेश करते ही शिर दीवार से टकरा जाता था।श इस सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा है कि महाराज युधिष्ठिर के उस सभागृह की निर्माण सामग्री असुरों के सभाग्रह से लायी गयी थी। हिमालय के आगे बिन्दु सरोवर के निकट वृषपर्वा नामक किसी असुर की सभा गिर गयी थी। उसमें अनेक प्रकार के स्तम्भ, नानाविध रत्न, रंगने के लिए भाँति–भाँति के रंग और अनेक प्रकार के वैज्ञानिक विधि से तैयार किये गये भित्तियोजक चूर्ण (चूना) थे। इस वृषपर्व–सभा के निर्माण में बची हुई सामग्री को मयासुर अपने साथ ले आया था। उसका उपयोग युधिष्ठिर के सभागृह में किया

गया। इस मन्तव्य से यह सत्यता सम्पुष्ट होती है कि युधिष्ठिर के सभागृह के निर्माण में फारस के स्थपतियों एवं शिल्पियों का योगदान था। महाभारतकालीन कला के जो बिखरे हुए प्रमाण उपलब्ध होते हैं, उसके निर्माता फारसीवासी असुर ही थे।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्रसूत्र और किसी अज्ञातनाम ग्रन्थकार के शिल्परत्न की भाँति महाभारत में भी रूप–भेदों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। वहाँ रूप के 19 प्रकार बताये गये हैं, जिनके नाम हैं– हस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुष्कोण, नानाकोण (जैसे त्रिकोण, षट्कोण, अष्ट्कोण आदि), गोलाकृति, अण्डाकृति, श्वेत, कृष्ण, नीलारुण (बैंगनी) तथा नाना वर्णों से मिश्रित रूप रक्त, पीतादि एक–एक स्वतन्त्र वर्ण–रूप, कठिन, चिक्कन, श्लथ (सूक्ष्म, कृश, स्निग्ध, स्वल्प), पिच्छल (फिसलाहट पैदा करने वाले), मृदु (यथा शिरीष पुष्प). दारुण (जैसे लोहे का स्वरूप), छोटे, बड़े, मोटे, पतले, कटे, घंटे, गोल, काले, सफेद, एकरंगे, पंचरंगे आदि हैं। ये रूप–भेद वस्तुतः कला के साधन थे, किन्तु उनके उपयोग–प्रयोग के सम्बन्ध में वहाँ कुछ नहीं कहा गया है। 'महाभारत' में एक स्थान पर सत्यवान् के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है कि बचपन में उसको घोड़ों का बड़ा शौक था। अपने इसी शौक के कारण, अपने माता–पिता के साथ बनवास के दिनों में वह मिट्टी के घोड़े बनाया करता था और भीत पर भी घोड़ों के चित्र अंकित करता था। इसीलिए उसको चित्राश्व नाम दिया गया।

महाभारत सभापर्व में युधिष्ठिर की सभा के सन्दर्भ में भी कुछ ऐसे उल्लेख हुए हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि उसकी सज्जा में चित्रकला का भी कुछ योग था। महाकाव्यों के युग में संगीत विद्या का पर्याप्त विकास हो चुका था। रामायण और महाभारत से ज्ञात होता है कि संगीतविद्या समस्त लोकरुचि का विषय बन गयी थी। तत्कालीन समाज में संगीत एक लोकप्रिय कला के रूप में सम्मानित हो चुका था। इन दोनों ग्रन्थों की राम–रावण तथा कौरव–पाण्डवों की पुरातन कथा को मौखिक रूप से सुरक्षित रखने और उसको समाज में प्रचारित करने का एकमात्र कार्य तत्कालीन कुशीलवों (नट, नर्तक, गायकों) ने किया था। महान् ज्ञानी लंकेश्वर रावण स्वयमेव संगीत का प्रकाण्ड विद्वान् था। सस्वर वेदपाठ की पद्धति का प्रचलन सर्वप्रथम उसी ने किया था। उसकी पत्नी मन्दोदरी संगीतविद्या की विदुषी थी। रावण की राजसभा में अनेक गायनाचार्य और नाट्यनिपुण नर्तकियाँ थीं। उसकी संगीतशाला भेरी, मृदंग, शंख, मुरज (पखावज) और पर्णव आदि अनेक वाद्ययंत्रों से सुसज्जित थी। रावण के नाम से उपलब्ध रावणीयम् संगीत विषयवस्तु ग्रन्थि सम्भावनातः मूल ग्रन्थि का संस्करण या रूपान्तर है। महामुनि वाल्मीकि संगीत विद्या में पारंगत थे। रामायण की कथा को उन्होंने सर्व प्रथम लव–कुश द्वारा (तत्री) वीणा वादन के साथ गायन कराया था। उन्हीं के द्वारा रामायणी कथा सर्वप्रथम लोकगोचर हुई। रामायण में अन्य ललितकलाओं के साथ संगीत विषयक बहुविध चर्चाएँ हुई हैं। सुन्दरकाण्ड में विपची वीणा और किष्किन्धाकाण्ड में किन्नरी वीणा का उल्लेख हुआ है। महाभारतयुगीन समाज की संगीतप्रियता के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। श्रीकृष्ण चतुःषष्टि कलाओं के अधिष्ठाता थे। उनके द्वारा ब्रजभूमि में रची गयी रास–लीलाओं से भारतीय संगीत–नृत्य की समृद्ध परम्परा का उदय हुआ। 'श्रीमद्भागवत्' की 'रास पंचाध्यायी' और 'गोपीगीत' श्रीकृष्ण तथा गोपियों के नृत्य–संगीत कलाओं की निपुणता के परिचायक और भारतीय सगीत तथा नाट्यकला के इतिहास के आधारस्तम्भ है। गोपियाँ श्रीकृष्ण की

कला–सृष्टि है। वे दिव्यांगनाएँ भारतीय कला की अधिष्ठातृ बनकर सम्पूजित हो आयी है। इस राष्ट्र की अन्तःचेतना में भक्ति की भावधारा बनकर वे परम प्रणय और आनन्दातिरेक की अजस्र प्रेरणा के रूप में समाहित हैं।

महाभारत के प्रमुख पात्र अर्जुन के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक वर्ष के अज्ञातवास के समय विराट् सजा के दरबार में रहकर छदम नाम से उसने राजपुत्री उत्तरा को संगीत की शिक्षा दी थी। वह वीणावादन में सिद्धहस्त था। वेणुवादन में श्रीकृष्ण और वीणावादन में अर्जुन को एकमात्र अधिकारी माना गया है। महाभारतकालीन संगीत में शंख भी प्रमुख वादन के रूप में प्रचलित था। 'महाभारत' में चार उपवेदों में गन्धर्व वेद का भी उल्लेख हुआ है। उसमें लिखा गया है कि महामुनि नारद गन्धर्वविद्या के प्रथम पारगत विद्वान हुए। उन्हें इस विद्या का ज्ञान ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था।

महाभारतकालीन संस्कृति का उल्लासमय स्वरूप तत्कालीन विभिन्न मनोविनोदों, कला–कौशलों और अनेक प्रकार के शिल्पों में देखने को मिलता है। तत्कालीन समाज में घुड़दौड़, आखेट, द्यूत, नृत्य–संगीत, काव्य, कला–गोष्ठियों और विभिन्न प्रतियोगिताओं का पर्याप्त प्रचलन था। सामूहिक उत्सवों में स्त्री–पुरुष समान रूप से भाग लेते थे। इस मनोविनोदप्रिय समाज में कलाएँ भी चरम उन्नति पर थीं। स्थापत्य, चित्र, मूर्ति, नृत्य और संगीत सभी के प्रति समाज का समान रुझान था। चित्रकला, संगीत और नृत्य महिलाओं की शिक्षा के अनिवार्य अंग थे। कलाओं के साथ ही विभिन्न शिल्प पर्याप्त विकास पर थे। गृहशिल्प, वस्त्रोत्पादन, काष्ठशिल्प, दन्तशिल्प, अस्थिशिल्प, चर्मशिल्प और सिविका–रथ–नौका–निर्माण तत्कालीन शिल्पोन्नति के परिचायक थे। वास्तुशिल्प की दृष्टि से महाभारतकालीन विशाल प्रासाद, सभामण्डप और यज्ञमण्डप विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शिल्पियों को यथेष्ट वृत्ति देना और उनका पोषण करना राजधर्म का अंग माना जता था। उस समय राज्यकर देने वाले धनाढ्य शिल्पियों का होना पाया जाता है। शिल्पशास्त्र को सम्भवतः तब राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त था।

संदर्भ ग्रन्थ

- वेदव्यास रचित महाभारत
- वाल्मीकि रामायण
- तुलसीदास रचित रामचरितमानस
- विष्णुधर्मोत्तर पुराण

भारत के प्राच्य अभिलेख

• कौशल कुमार त्रिपाठी

भारत के विभिन्न स्थानों में, विभिन्न युगों में समय–समय पर इतने अधिक अभिलेख उपलब्ध हुए हैं और आज भी निरन्तर उपलब्ध हो रहे हैं कि देश के प्रायः सभी संग्रहालयों में न्यूनाधिक रूप में उनके संग्रह देखने को मिलते हैं। अभिलेखों का इतिहास की दृष्टि से जितना अधिक महत्व है, उतना ही महत्व उनके प्रचलन और उनकी परम्परा का भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्र संहिताओं के वीर–वृत्तों (गाथाओं) और नाराशंसियों (स्तुतिपरक ख्यातों) ने ही संभवतः परवर्ती युग में अभिलेखों के उत्कीर्णन की परम्परा को जन्म दिया। वैदिक युग में बहुधा यज्ञ के अवसरों तथा धार्मिक उत्सवों के समय ऋषियों तथा राजाओं की वीर–वृत्तावलियों ओजस्वी वाणी में गीतिबद्ध ढंग पर उच्चरित होती थीं। उनमें वीरता, दानशीलता तथा कीर्तिमत्ता आदि गुणों का वर्णन होता था। जहाँ तक उपलब्ध अभिलेखों का सम्बन्ध है, उनमें प्रायः यशोगान, दानशीलता, वीरता, विजय आदि महनीय घटनाओं को उत्कीर्ण किया जाता था। जिस शासक ने जो विशिष्ट ख्यातियुक्त प्रशंसनीय कार्य किये, स्मारक, भवन, कलाकेन्द्र तथा धार्मिक मठ–मन्दिर, बिहार आदि बनवाये, बड़े–बड़े दान दिये, उन सब को अभिलेखों में खुदवाया जाता था। राजाज्ञाओं को उत्कीर्ण कराया जाता था। अभिलेखों के ऐतिहासिक साक्ष्य के लिए उन पर तिथियों भी अकित की जाती थीं। भारत में अभिलेख कब से खुदवाये गये, इस

सम्बन्ध में विद्वान् एक–मत नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि सम्राट् अशोक के समय (272–232 ई.पू.) से अभिलेख खुदवाये जाने आरम्भ हुए। किन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि सम्राट् अशोक से पूर्व ही अभिलेख उत्कीर्णित किये जाने लगे थे। उदाहरणस्वरूप बस्ती से प्राप्त पिप्रा–कलश–अभिलेख और अजमेर से प्राप्त बडली अभिलेख का नाम लिया जाता है। इन दो अपवादों के बावजूद सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि सम्राट् अशोक के स्तम्भ से ही अभिलेख खुदवाने की व्यापक परम्परा स्थापित हुई।

भारत के विभिन्न अंचलों में समय–समय पर ये अभिलेख अनेक रूपों मे प्राप्त हुए हैं। उनकी आधारभूत सामग्री के अनुरूप उनको अनेक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है यथा शिलाखण्डों, स्तम्भों, प्रतिमाओं, स्तूपों, गुफाओं, ताम्रपत्रों, मुद्राओं, मुहरों, वेदिकाओं, प्राकारों और आयागपट्टों आदि के रूपों में वे उपलब्ध हुए हैं। उनका उत्कीर्णन संस्कृत, पालि और प्राकृत भाषाओं में हुआ है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी वे उपलब्ध हैं। शिलाखण्डों पर लेख उत्कीर्ण करने का व्यापक प्रयत्न, सम्राट् अशोक के समय (272–232 ई.पू.) से हुआ। अपने सुविस्तृत साम्राज्य में जनता को राजकीय आदेशों की जानकारी देने के लिए उसने विभिन्न अंचलों में धर्मलेख खुदवाये। ये शिलालेख पश्चिमोत्तर में मानसरोवर (जिला पेशावर) तथा काठियावाड़ के गिरनार पर्वत से लेकर पूरब में धौली (उड़ीसा) और उत्तर में कालसी (जिला देहरादून) से लेकर दक्षिण में येरगुडी (तमिलनाडु) तक भारत के विभिन्न अंचलों में उपलब्ध हुए हैं। अशोक के बाद पुष्यमित्र शुंग (187–151 ई.पू.) का अयोध्या–अभिलेख तथा जैन खारवेल (200 ई.पू.) का हाथीगुम्फा अभिलेख और ईसा की प्रथम–द्वितीय शती ई. में वर्तमान कुषाण राजा हुविष्क का मथुरा अभिलेख और कनिष्क (प्रथम शती ई.) का मानिक्याला अभिलेख का नाम उल्लेखनीय है। शिलाखण्डों पर उत्कीर्णित अभिलेखों में महाक्षत्रप रुद्रदामन का 150 ई. में उत्कीर्णित गिरनार अभिलेख का विशेष महत्व है। जैसा कि उसके नाम से ही विदित होता है, उसे पर्वत–शिला को काट कर उस पर उत्कीर्ण किया गया है। अभिलेख की विशेष बात यह है कि जहाँ अन्य शक शासकों के शिलालेख प्राकृत में हैं, वहाँ रुद्रदामन का यह अभिलेख संस्कृत में है। उसके पुत्र रुद्रसिंह का गुफालेख भी उसकी धार्मिक उदारता और भारतीयता के प्रति गहन अभिरुचि का परिचायक है। इसी प्रकार गुप्त राजाओं में समुद्रगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय (375–414 ई.) का शिलालेख, कुमारगुप्त प्रथम (414–455 ई.) का मन्दसौर लेख और स्कन्दगुप्त (455–467 ई.) का जूनागढ़ अभिलेख उल्लेखनीय है। कन्नौज के राजा यशोवर्मन (725–752 ई.) और मौखरि राजा ईशानवर्मा का हरहा अभिलेख (प्रशस्ति) से भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण उपलब्धियों सिद्ध हुई हैं।

प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास की निर्माणक सामग्री शिलालेखों के अतिरिक्त स्तम्भलेखों के रूप में भी प्राप्त हुई हैं। विभिन्न प्रयोजनों से स्तम्भ–निर्माण की परम्परा बहुत प्राचीन प्रतीत होती है। प्रागैतिहासिक सभ्यता के परिचायक हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों आदि नगरों की खुदाइयों से प्राप्त सामग्री में इस प्रकार के स्तम्भों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। ये स्तम्भ संभवतः धार्मिक प्रयोजनों से निर्मित किये जाते थे। बाद में उन पर लेख भी खुदवाये जाने लगे। संभवतः पत्थरों और पहाड़ों के अभाव में स्तम्भ निर्मित किये गये और उनके द्वारा जनता तक सुगमतापूर्वक राजाज्ञा को पहुँचाया गया। स्तम्भलेखों के खुदवाने का प्रचलन भी अशोक के ही

समय में हुआ। उसने लगभग सात स्तम्भलेख उत्कीर्णित कराये, जिनमें रूपनाथ (मध्य प्रदेश), सारनाथ (उत्तर प्रदेश), लौटिया (चम्पारन, बिहार), दिल्ली, साँची और कौशाम्बी के स्तम्भलेख मुख्य हैं। इन पर अशोक ने अपने धर्मलेख खुदवाये। सम्राट् अशोक के स्तम्भलेख एक ओर तो लोकहितकारी बौद्ध धर्म की महानताओं को अभिव्यक्त करते हैं और दूसरी ओर उसके ऐतिहासिक पक्ष पर प्रकाश डालते हैं। इसी प्रकार यूनानी राजदूत हेलियोदारस (200 ई.पूर्व.) ने भिलसा (मध्यप्रदेश) में अपना एक स्तम्भलेख खुदवाया। मौर्यों के बाद गुप्त शासकों के स्तम्भलेख विशेष महत्व के हैं। उनमें समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भलेख, कुमारगुप्त प्रथम, स्कन्दगुप्त और भानुगुप्त के स्तम्भलेखों में उनकी विजय और वंशकीर्ति का मार्मिक वर्णन किया गया है। इसी प्रकार यशोवर्मन के मन्दसौर स्तम्भलेख में उसकी विजय और यशोगाथा का हृदयग्राही वर्णन किया गया है। ये स्तम्भलेख वस्तुतः एक प्रकार के कीर्तिस्तम्भ थे। जैसे–जैसे उनकी लोकप्रियता बढ़ी, उनके निर्माण–प्रयोजनों में भी परिवर्तन होता गया। आरम्भ में उन्हें धार्मिक भावना के प्रचार का माध्यम बनाया गया। किन्तु बाद में विजय, यश, कीर्ति, स्मृति और वंश–वृत्त आदि को सुरक्षित रखने के लिए उनका निर्माण किया गया है। आधुनिक युग पर भी उनका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय महत्व के भवनों, द्वारों और हुतात्माओं की स्मृति में इस प्रकार के स्तम्भलेख आज भी खुदवाये जाते हैं। ये स्तम्भलेख पत्थर के अतिरिक्त धातु पर भी उत्कीर्णित हुए। यद्यपि बहुसंख्यक अभिलेख प्रस्तर स्तम्भों पर ही उत्कीर्णित है किन्तु धातुनिर्मित चन्द्रगुप्त द्वितीय का मेहरौली स्तम्भ अपनी परम्परा का उल्लेखनीय उदाहरण है।

धर्मप्राण भारत में मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण की परम्परा जितनी व्यापक रही है उतनी ही प्राचीन भी है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी धर्मावलम्बियों ने मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण कराके अपनी धार्मिक भावना का परिचय दिया। प्रतिमा–विज्ञान सम्बन्धी प्राचीन प्राविधिक संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर मूर्तियों के निर्माण की परम्परा जितनी प्राचीन है, उन पर लेख खुदवाने का प्रचलन उतना पुराना नहीं है। फिर भी पूर्व में मौर्य युग से ही मूर्तियों पर लेख उत्कीर्णित किये जाने लगे थे। उदाहरण के लिए पटना और परखम की यक्ष–प्रतिमाओं को उद्धृत किया जा सकता है। ईसा की प्रथम शती के लगभग निर्मित बोधगया तथा मथुरा की लेखयुक्त बौद्ध मूर्तियों का नाम इस परम्परा में उल्लेखनीय है। जिनमें अधिकतर कुषाण राजाओं के लेख है। मथुरा के क्षत्रपों के समय भी लेखयुक्त मूर्तियों का निर्माण हुआ। गुप्त राजाओं के समय मनकुमार की बौद्ध प्रतिमा और करमदण्डा के शिवलिंग को उद्धृत किया जा सकता है। हूण राजा तोरमाण द्वारा निर्मित एरण (मध्यप्रदेश) की बाराह भगवान की विशालकाय मूर्ति पर भी प्रशस्ति अंकित है। इसी प्रकार जैन मूर्तियों और आयागपट्टों पर भी बहुसंख्यक लेख खुदे हुए मिलते हैं। ये लेख मूर्ति के शीर्ष भाग या निम्न भाग की पट्टिका पर उत्कीर्णित हैं। इन लेखयुक्त प्रतिमाओं से मूर्तिकला के इतिहास पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। बुद्ध के अवशेषों को पात्र में रखकर भूमि में गाढ़ दिया जाता था और उनके ऊपर अण्डाकार या अर्धवृत्तकार ढाँचा निर्मित किया भारत के सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि जाता था। जिसे स्तूप नाम से कहा गया। स्तूप की वेष्ठनियों (प्राकारों) तथा तोरणों (द्वारों) पर लेख उत्कीर्ण किये जाते थे। भरहुत, साँची और अमरावती के स्तूप इसके उदाहरण हैं। साँची के दक्षिण तोरण पर सातवाहन राजा सातकर्णि का

नाम और उसकी वेष्ठनी पर उन अनेक व्यापारियों एवं धनिकों के नाम खुदे हुए हैं। जिन्होंने स्तूप के निर्माण में दान दिया था। इसी प्रकार भरहुत की वेष्ठनी पर जातक कथाओं की ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख हुआ है। उसके पूर्वी तोरण पर अंकित लेख के आधार पर यह सिद्ध होता है कि उसका निर्माण ईसा पूर्व द्वितीय शती में शुंग युग में हुआ था। अमरावती तथा मथुरा में भी इसी प्रकार के स्तूप–अवशेष प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार गुंटूर जिले के नागार्जुन पर्वत के समीप प्राप्त स्तूप–अवशेषों से तीसरी शती ई. में वर्तमान वीरपुरुषदत्त के अग्निष्टोम तथा अश्वमेध आदि यज्ञों का उल्लेख हुआ मिलता है।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में गुफाओं के निर्माण की परम्परा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रही है। कला केन्द्रों के रूप में और धार्मिक अभिप्राय से इन गुफाओं का निर्माण हुआ। इन गुफाओं का निर्माण प्रायः बौद्ध धर्म के उदय के बाद हुआ। जन–कोलाहल से दूर, एकान्त जंगलों में निवास करने के उद्देश्य से ही संभवतः उनका निर्माण हुआ। अशोक से लेकर शुग–सातवाहनों और गुप्तों तथा उनके बाद तक निरन्तर उनका निर्माण होता रहा। इन गुफाओं के भीतर उनके संरक्षक शासकों, निर्माणक शिल्पियों और निर्माण के अभिप्रायों को शिलाओं पर उत्कीर्णित किया गया। अनेक गुफाएँ ऐसी हैं जिनका निर्माण तथा पुनरुद्धार समय–समय पर विभिन्न संरक्षक शासकों द्वारा होता गया। इस प्रकार एक ही गुफा अनेक शासकों के योगदान का इतिहास बताने के कारण उस पर उत्कीर्णित गुफालेखों का बड़ा महत्व है।

इस प्रकार की प्राचीनतम गुफाओं में बराबर पर्वत (गया, बिहार) की गुफाओं का नाम पहले आता है, जिन्हें अशोक ने बनवाया था। उनमें उत्कीर्णित अशोक के लेखों से विदित होता है कि उन्हें आजीवक साधुओं के निवास के लिए बनवाया था। उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट हाथीगुम्फा में सम्राट् खारवेल की प्रशस्ति उत्कीर्णित है। इसी प्रकार क्षत्रप नहपान के जामाता उषवदत्त के अभिलेख नासिक, जूनार तथा कार्ले की गुफाओं ने सुरक्षित हैं, जिससे उनका निर्माण–काल 200 ई.पूर्व. के लगभग ठहरता है। नासिक के गुफालेखों से सातवाहनों और शकों के संघर्ष के साथ–साथ उनके निर्माण काल पर भी प्रकाश पड़ता है। इस अभिलेख से उषवदत्त की दानशीलता तथा ब्राह्मणों के प्रति उसके विशेष आदर–भाव का पता चलता है। उसने ब्राह्मण–कन्याओं से विवाह किया था और अजमेर के समीप पुष्कर तीर्थ में अभिषेक किया था। गुप्त युग में गुफाओं के निर्माण में प्रगति हुई। उदयगिरि की इतिहास प्रसिद्ध गुफा चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में निर्मित हुई। गुप्त युग में ही विश्वविख्यात अजन्ता की अधिकतर गुफाओं का निर्माण तथा पुनरुद्धार हुआ। वाकाटक राजा हरिषेण (600 ई.) के उपलब्ध गुफालेख से विदित होता है कि अजन्ता के निर्माण में उसका भी योगदान रहा। इसी प्रकार ग्वालियर के निकट बाघ की प्रसिद्ध गुफाओं का निर्माण लगभग ईसा की प्रथम शती से होने लग गया था और आगे की कई शताब्दियों तक होता गया। राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण प्रथम के समय निर्मित एलोरा के कैलाश मन्दिर की प्रसिद्ध गुफा का कई दृष्टियों से महत्व है। सह्याद्रि पर्वत (पश्चिमी घाट) में गुफाओं की संख्या सर्वाधिक है। दक्षिण में महाबलीपुरम् और जैनधर्म से सम्बद्ध उड़ीसा की मंचपुरी रानी गुफा प्राचीनता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार भज, कार्ले और कान्हेरी की गुफाओं का भी ऐतिहासिक महत्व है। इन गुफाओं के निर्माण में ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीनों धर्मों के अनुयायियों का समान योगदान रहा और अतीत की अनेक शतियों से लेकर आज तक वे

हमारी धार्मिक तथा सांस्कृतिक चेतना को उजागर करने में अतीव उपयोगी सिद्ध हुई हैं। प्राचीन भारत में धार्मिक प्रतिष्ठानों की स्थापना के लिए दी जाने वाली भूमि तथा मन्दिर आदि अचल सम्पत्ति का विवरण ताम्रपत्र पर उत्कीर्णित करके उसे दानदाता की ओर से दानगृहीता को दिया जाता था। ये ताम्रपट्ट वस्तुतः एक प्रकार के दानपत्र थे। ये दानपत्र दानगृहीता के लिए अधिकार पत्र के रूप में हुआ करते थे। ब्राह्मणों तथा राज्याश्रित अन्य व्यक्तियों को दी जाने वाली भूमि आदि के लिए भी ताम्रपत्र लिखे जाते थे। कभी–कभी राज्य–सीमा के अधिकार, वीरोचित कार्यों और वैदुष्य के सम्मानार्थ ताम्रपत्र प्रदान किये जाते थे। उनमें दानदाता तथा गृहीता का नाम, वंश, तिथि और उस वस्तु का पूरा विवरण लिखा होता था। जिसे दान में दिया जाता था। उपलब्ध दानपत्रों में सहगौरा का ताम्रपत्र सर्वाधिक प्राचीन है, किन्तु अधिकतर दानपत्र ईसवी सन् के बाद ही लिखे गये। ईसा की प्रथम शती में शक तथा पहलव राजाओं के समय तक्षशिला, कलवान और स्यूबिहार के ताम्रलेख प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

गुप्त युग में ताम्रपत्रों के उत्कीर्णन का प्रचलन अधिक हुआ। उत्तरी बंगाल के दामोदरपुर में उपलब्ध कुमारगुप्त प्रथम का ताम्रपत्र और स्कन्दगुप्त का इन्दौर ताम्रपत्र तत्कालीन शासन–व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। मध्यप्रदेश के खोह नामक स्थान से प्राप्त हस्तिन और संक्षोभ के ताम्रपत्रों में भूमिदान का उल्लेख हुआ। हर्षवर्धन के बांसखेरा तथा मधुबन के ताम्रपत्रों में हर्ष के जीवनादर्शों तथा प्रबन्ध का महत्वपूर्ण इतिहास सुरक्षित है। नालन्दा महाबिहार से उपलब्ध ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि सुमात्रा के राजा बालपुत्रदेव ने बंगाल के पालवंशीय राजा देवपाल से बिहार–निर्माण के लिए भूमि दान करने की प्रार्थना की थी। इसी प्रकार गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द के उपलब्ध अनेक ताम्रपत्र तत्कालीन परिस्थितियों पर व्यापक प्रकाश डालते हैं। ये दानपत्र न केवल इतिहास के आधार स्तम्भ हैं, अपितु उनके द्वारा तत्कालीन संस्कृति, धर्म, शासन, जन–जीवन और परम्पराओं का महत्वपूर्ण प्रामाणिक वृत्तान्त सुरक्षित रहता आया है। पुरातत्व–विषयक अभिलेखों में मुद्रालेखों का अपना विशेष स्थान है। मुद्राएँ भारत के सांस्कृतिक इतिहास की महत्वपूर्ण धरोहर हैं। ये मुद्राएँ लौह, रजत, ताम्र, स्वर्ण और मृत्तिका आदि पर निर्मित विभिन्न रूपों में उपलब्ध हुई हैं। समय–समय पर विभिन्न स्थानों से प्राप्त और भारत के अनेकानेक संग्रहालयों में सुरक्षित इन मुद्राओं पर खुदे हुए लेखों के अध्ययन से इतिहासकारों ने प्राचीन भारत के इतिहास, संस्कृति और सामाजिक जीवन के सर्वथा अज्ञात एवं विलुप्त तथ्यों का पता लगाया है। 300 ई. से पहले के लगभग पाँच सौ वर्षों के भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त कराने में मुद्राएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। मुद्रालेखों का इस दृष्टि से विशेष महत्व है कि साहित्यिक ग्रन्थों के अन्तर्वाह्य साक्ष्यों के आधार पर इतिहास की जो मान्यताएँ स्थापित हुई हैं उनकी सम्पुष्टि के लिए मुद्रालेख महत्त्वपूर्ण प्रमाण–सामग्री सिद्ध हुई है। इन मुद्राओं पर सम–सामयिक शासक का नाम, शासनकाल, उसकी उपाधि, विजय, धार्मिक मान्यताएँ और नीतियों का उल्लेख हुआ मिलता है। कुछ मुद्राओं में अंकित प्रतीकात्मक चिह्नों द्वारा सम्बद्ध शासक की अभिरुचियों का भी पता चलता है। उदाहरण के लिए सम्राट् समुद्रगुप्त की मुद्राओं में अंकित वीणा से उसकी संगीतप्रियता की जानकारी प्राप्त होती है। कुछ मुद्राओं पर विजेता और विजित, दोनों पक्षों का उल्लेख हुआ है। उदाहरण के लिए जोगलथम्बी भाण्ड से प्राप्त मुद्राओं में विजेता गौमतीपुत्र सातकर्णि और विजित राजा नहपान

दोनों का उल्लेख हुआ है।

भारतीय संस्कृति के आदान–प्रदान में यूनानी शासकों का जो योगदान रहा है, उसके प्रामाणिक इतिहास की जानकारी के लिए मुद्रालेखों का बड़ा महत्व सिद्ध हुआ है। भारत में मुद्रालेखों की उपलब्धि का इतिहास डियोडोक्स, यूथिडिमस, दिमित और अपलदत्तस (मिलिन्द) आदि प्राचीन शासकों के समय से आरंभ होता है। उन्हीं के अनुकरण पर कुषाण राजाओं ने अपनी मुद्राओं पर लेख उत्कीर्णित कराये। उन्होंने चाँदी की जगह सोने के सिक्कों का प्रचलन किया। कनिष्क के मुद्रालेखों से ज्ञात होता है कि उसने अपनी मुद्राओं पर शिव, अरदोक्षा, सूर्य और बुद्ध की आकृतियों को अंकित कर हिन्दू, यूनानी, ईरानी और बौद्ध धर्मों के प्रति अपनी समान निष्ठा का परिचय दिया। क्षत्रपों, सातवाहनों और गुप्तों की उपलब्ध कुछ मुद्राओं में युगल नामों का उल्लेख हुआ है। शासक राजा के साथ उसकी महारानी या उत्तराधिकारी युवराज का नाम भी उल्लिखित है। उनके द्वारा तत्कालीन राज्य की सीमाओं, सुदूर द्वीपान्तरों में राजनीतिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। कुषाणों के बाद गुप्तों ने भी अपने स्वर्ण–निर्मित सिक्कों पर संस्कृत में छन्दोबद्ध लेख उत्कीर्ण कराये। उनके सिक्कों पर अंकित परम भागवत उपाधि से ज्ञात होता है कि वे वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। धार्मिकता के अतिरिक्त उनकी उपाधियों और विजयों का भी उल्लेख हुआ है। मुद्राएँ अपने युग की सम्पन्नता और असम्पन्नता की घोतक हैं। उदाहरण के लिए आरम्भिक गुप्त राजाओं की स्वर्णमुद्रा उस युग की समृद्धि का परिचय देती हैं, किन्तु स्कन्दगुप्त की धातु–मुद्राएँ देश की विपन्नता तथा अवनति की सूचना देती हैं। गुप्तों के बाद मध्ययुगीन हूणों के मुद्रालेखों से उनकी भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध अभिरुचि का पता चलता है। हूण राजा मिहिर के मुद्रालेखों से ज्ञात होता है कि वह शैव मतावलम्बी था। इस प्रकार गोविन्दचन्ददेव, गंगदेव, परिमर्दिदेव और पृथ्वीराजदेव की मुद्राओं के लेख मध्ययुगीन इतिहास की मूल्यवान सामग्री सिद्ध हुई है। उपलब्ध मुद्राओं से तत्कालीन भाषा, साहित्य और कला पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। उनसे विभिन्न युगों में प्रचलित प्राकृत तथा संस्कृत भाषा के विभिन्न रूपों का परिचय प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए मौर्यों, सातवाहनों और कुषाणों के मुद्रालेखों से जिस प्रकार जन–भाषा प्राकृत की लोकप्रियता विदित होती है, ठीक उसी प्रकार गुप्तों के मुद्रालेखों में प्रयुक्त संस्कृत भाषा तत्कालीन समाज की संस्कृतप्रियता का द्योतन करती है।

गुप्तों की चित्रयुक्त मुद्राओं से उनकी कलाप्रियता का भी परिचय प्राप्त होता है। लिपि–विकास की दृष्टि से मुद्राओं का विशेष महत्व सिद्ध हुआ है। उदाहरण के लिए उत्तर–पश्चिम भारत के यूयिडिमस, दिनित तथा मिलिन्द आदि यूनानी शासकों के मुद्रालेखों में जहाँ खरोष्ठी लिपि का प्रयोग हुआ है, वहीं पश्चिम भारत से प्राप्त क्षत्रप, शक शासकों तथा संघ–शासकों के मुद्रालेखों में ब्राह्मी लिपि का उपयोग हुआ है और गुप्त शासकों की मुद्राओं में गुप्त लिपि तथा मध्ययुगीन शासकों की मुद्राओं में नागरी लिपि का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार प्राचीन भारत के गणतंत्रों की धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के अध्ययन में उनका बड़ा महत्व है। मुहरें भी प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास की महत्वपूर्ण सामग्री हैं। ये मुहरें विभिन्न रूपों तथा अभिप्रायों से निर्मित की गयी प्रतीत होती हैं। वे मृतिका, ताम्र, काँस्य, प्रस्तर तथा हाथीदाँत आदि विभिन्न उपकरणों से निर्मित हुई मिली हैं। उनमें कुछ तो मन्दिरों

तथा बिहारों से, कुछ राजकीय कार्यकलापों से कुछ कार्यालयीय कार्यों से और कुछ व्यक्तिगत कार्यों से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार की अनेक मुहरें प्रयाग के निकट भीटा तथा नालन्दा, असीरगढ़, सोनपत, वैशाली और राजघाट आदि अनेक स्थानों की खुदाइयों से प्राप्त हुई हैं। इस प्रकार की मुहरों का सर्वाधिक प्राचीन रूप प्रागैतिहासिक स्थानों हड़प्पा, मोहेनजोदड़ों तथा लोथल (अहमदाबाद) से प्राप्त हुआ है। उनमें चित्रमय लिपि अंकित है, जिसका अध्ययन अभी तक नहीं हो पाया है। उन पर गैंडा, हाथी, शेर, बैल और भैंसा आदि विभिन्न पशुओं की आकृतियाँ अंकित हैं। ये चित्रमय मुहरें भारतीय कला के प्रथम जीवित प्रमाण हैं, जिनके प्रभाव की छाप दजला–फरात, दक्षिणी ईरान आदि देशों की कलाकृतियों पर स्पष्ट है। इन मुहरों पर अंकित पशुओं की आकृतियों से तत्कालीन समाज के पशुपालन एवं पशुप्रेम का पता चलता है।

ऐतिहासिक युग की भीटा से प्राप्त मुहरों पर शिवलिंग, त्रिशूल और वृषभ की आकृतियाँ अंकित हैं। नालन्दा की मृतिका मुहरों पर बुद्ध की प्रतिमा अंकित है। इसी प्रकार गुप्तों की मुद्राओं में गरुड़ पालराजा देवपाल की मुहर में बुद्ध की आकृति अंकित है। स्तूपों या स्तम्भ–लेखों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। स्तूपों के चारों ओर वेदिकाओं का निर्माण प्रायः साँची, बोधगया, भरहुत और अमरावती आदि सभी स्थानों में देखने को मिलता है। प्रायः सभी स्तूप–वेदिकाओं पर लेख खुदे हुए हैं। उनमें उसके दानदाता का उल्लेख किया गया है। साँची की वेदिका पर चन्द्रगुप्त द्वितीय का लेख खुदा हुआ है। भरहुत की वेदिका पर शुंगयुगीन लेख में जातक कथाओं के आधार पर मानुषी बुद्ध तथा नृत्यरत अप्सराओं की आकृतियाँ अंकित हैं। बोधगया की वेदिका पर भी लेख अंकित हैं, जो बाद का प्रतीत होता है। इसी प्रकार अमरावती और साँची की वेदिकाओं पर सातवाहन शासकों के लेख खुदे हुए हैं। ये अभिलेख अतीतकालीन भारत के बौद्धिक, धार्मिक, प्रशासनिक और व्यापारिक स्थितियों पर प्रकाश डालने के साथ–साथ अपने–अपने युगों के नगरों, गाँवों और नागरिक तथा ग्रामीण जीवन के रीति–रिवाजों तथा प्रथाओं का वास्तविक रूप प्रदर्शित करने के कारण सांस्कृतिक इतिहास के भी बहुमूल्य स्रोत हैं। लेखनकला के इतिहास के वे एकमात्र साधन है। जिस पुरातन युग में विचारों को लिपिबद्ध करने के लिए कोई व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक साधन नहीं थे, मृत्तिका, प्रस्तर और धातु आदि को लेखन का आधार बनाया गया। इस दृष्टि से अभिलेख ही हमारी प्रथम पुस्तकें हैं। जिन स्तम्भों पर ये अभिलेख उत्कीर्णित किये गये उनके द्वारा तत्कालीन स्थपतियों की निपुणता के दर्शन होते हैं। अशोक की महानता के प्रतीक उसके कीर्तिस्तम्भ वस्तुतः भारतीय गौरव के चिरन्तन स्मारक हैं। उसका सारनाथ का सिंहशीर्ष आज भी भारत की राष्ट्रीय गरिमा का प्रतीक बना हुआ है, जिन युगों की जानकारी के लिए कोई अन्य साधन उपलब्ध नहीं हैं, एकमात्र अभिलेखों द्वारा ही उनका अस्तित्व सुरक्षित रह पाया है। ये अभिलेख वस्तुतः अपने युगों के दर्पण हैं, जिनके द्वारा अतीत के सहस्रों वर्षों में घटित भारतीय जन–जीवन की अविकल झाँकियाँ अभिव्यजित हुई हैं।

प्राग इतिहास की साक्ष्य सामग्री

• ईशान अवस्थी

इस पृथ्वी पर मानववंश का पता लगाने के एकमात्र साधन हैं प्रागैतिहासिक मानव के अवशिष्ट अस्थि–कंकाल और उसके द्वारा निर्मित विभिन्न उपकरण। ये अस्थि–पजर और उपकरण ही प्राक् इतिहास की प्रमुख प्रमाण सामग्री हैं। इसी सामग्री के आधार पर विद्वानों ने विभिन्न प्रजातियों के मूल और विभिन्न देशों की प्रागैतिहासिक तथा पुरा–ऐतिहासिक परिस्थितियों का पता लगाया। विभिन्न देशों में बिखरे हुए मानववंशों से सम्बद्ध इस प्रमाण–सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन से विद्वानों को इस निष्कर्ष तक पहुँचने में सहायता मिली कि मूल मानववंश का प्रसार विश्व के किस भू–खण्ड से हुआ। विभिन्न भू–भागों में बसे वर्तमान राष्ट्रों के प्राचीन अस्तित्व के अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए है। भारत में भी समय–समय पर उत्खनन कार्य हुए और वहाँ से उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनेक सन्दिग्ध तथा अपूर्ण तथ्यों के स्थिरीकरण में महत्वपूर्ण सहायता मिली और नयी जिज्ञासाओं के समाधान के प्रति उत्सुकता जगी। आज से लगभग आधी शती पूर्व पुरातत्वविद् एवं नृतत्वज्ञ विद्वान् सर हर्बर्ट रिज्ले ने लिखा था कि भारत में आदिम मनुष्य–जीवन के उतार–चढ़ाओं का दिग्दर्शन कराने वाले, गुफाओं, समाधियों, चट्टानों, टीलों तथा हड्डियों के कोई भी अवशेष नहीं मिले हैं। भारत में न तो झीलों के तटवर्ती निवास या आधुनिक सर्वेक्षण द्वारा यूनान के भूमिगर्भ से निकाले गये किलेनुमा

नगर ही उपलब्ध हुए हैं और न हाथ से निर्मित हड्डियों तथा पाषाण आदि के हथियार ही प्राप्त हुए। इस कथन द्वारा रिज्ले ने भारत के पुरातन अस्तित्व के प्रति संदेह प्रकट किया। इस सम्बन्ध में अब तक जो तथ्य प्रकाश में आये हैं उनसे यह बात तो निश्चित हो चुकी है कि भारत और शेष एशिया का पुरा–इतिहास अलग–अलग नहीं था। उपलब्ध सामग्री के आधार पर निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि समस्त मानव प्रजातियों के विस्तार में मेसोपोटामिया तथा भारत और चीन तथा मंचूरिया, इन दो विशाल भू–भागों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

भारत में प्रागैतिहासिक और पुरा–ऐतिहासिक महत्व के बहुसंख्यक पत्थरों के औजार उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, आंध्र, मैसूर, गुजरात और सिन्ध से प्राप्त हुए हैं। इस दृष्टि से मैसूर के ब्रह्मगिरि–स्थान की खुदाइयों से प्राप्त सामग्री का विशेष महत्व है। इस सामग्री को पुरातन पाषाणयुगीन कहा गया है, जो कि सिन्धु–संस्कृति से कहीं अधिक प्राचीन है। सिन्धु तथा सोहन नदी (पंजाब) के उत्तालों से जो हाथ की कुल्हाड़ियों और औजार मिले हैं उनसे नव पाषाण युग पर प्रकाश पड़ता है। इन उपलब्ध उपकरणों के आधार पर विद्वानों का अभिमत है कि मानव का मूल निवास पहले तो भारत के मध्य एशिया भाग में था और बाद में उसका पौलाव उत्तर तथा पश्चिम भारत में हुआ। भारत की प्रागैतिहासिक संस्कृति की आदिम परिस्थितियों का पता एकमात्र इसी आधार पर किया जा सकता है। इस सांस्कृतिक आधार की सम्पुष्टि के लिए सिन्धु सभ्यता के क्षेत्रों से प्राप्त लगभग पचास अस्थिपञ्जर तथा अन्य उपकरण है। इस सामग्री के विश्लेषण एवं अध्ययन कर विद्वानों ने मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा के विस्तृत क्षेत्र को पुरा–आस्ट्रेलीय भू–माय–सागरीय और आमीनी (अल्वाइन) आदि विभिन्न प्रजातियों के सांस्कृतिक तत्वों का सम्मिश्रण सिल बताया है।

पूर्व–पाषाण से लेकर सिन्धु सभ्यता के युग तक भारत में विभिन्न मानवों की परिधायक जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है उसके अध्ययन–अनुशीलन और तुलनात्मक परीक्षण से ऐसे सुस्थिर एवं पुष्ट आधार प्रकाश में आये हैं, जिनके द्वारा भारत भूमि की पुरातन गरिमा प्रख्यात हुई है और अनेक देश यहाँ की अनूठी सभ्यता तथा संस्कृति से प्रभावित हुए हैं। इस सामग्री का विधिवत् अध्ययन पाषाण युग से आरम्भ होता है। भारतीय जन–जीवन के अस्तित्व का आरम्भ सुदूर अतीत के पाषाण युग से होता है। इस युग की प्रायः समस्त उपलब्ध सामग्री पाषाण तक ही सीमित है। इसी आधार पर विद्वानों ने इस युग को पाषाण की संज्ञा दी है। इस युग की उपलब्ध सामग्री में सनय की पूर्वापरता है। अतः मनुष्य के विकासक्रम के आधार पर इस युग को पूर्व, मध्य और उत्तर तीन भागों में विभाजित किया गया है। पूर्व–पाषाणयुगीन मनुष्य का जीवन प्रकृति पर आधारित था। कृषि तथा पाशुपालन आदि से यह सर्वथा अपरिचित था। इस युग का आदिम मानव मुख्यतः फल, फूल कन्द–मूल पशु–पक्षी, पहाड़, घाटी, नदी–नद और जंगल आदि प्राकृतिक उपादानों तथा प्राकृतिक धन पर निर्भर रहा। उसके सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का निर्माण इन्हीं जागादानों पर अवलम्बित था। छोटे आकार के पशुओं को तो वह भालों तथा लट्ठों से हत कर सकता था, किन्तु बड़े हिंसक पशुओं का सामना करने के लिए उसे कारगर हथियारों की आवश्यकता थी। संकटमय स्थितियों से निपटने के लिए उसने पहले तो पत्थरों को संवार तराश कर उन्हीं से हथियारों का काम लिया। कुछ समय पश्चात् उसने हड्डियों के हथियारों का भी निर्माण किया। ये हथियार आरम्भ में यद्यपि बड़े असुविधाजनक थे, किन्तु

धीरे–धीरे उसने उनके प्रयोग में लकड़ी का संयोग कर उन्हें अधिक सुविधाजनक तथा कारगर बनाया। कुल्हाड़ीनुमा सुधरे हथियारों के अतिरिक्त उसने ऐसे भी कई नये औजार बनाये, जिनसे वस्तुओं को तोड़ने, छीलने, खोदने और जोड़ने में सहायता ली जा सकती थी। इस प्रकार की अधिकतर सामग्री तो काल के अंतराल में विनष्ट हो गयी, किन्तु कुछ सामग्री शिवालिक की पहाड़ियों, उत्तरी–पश्चिमी पंजाब, पूंछ और जम्मू आदि स्थानों से प्राप्त हुई है। विद्वानों ने इस सामग्री को पाँच लाख वर्ष प्राचीन कहा है। आत्मरक्षा और उदर–पूर्ति की आवश्यकताओं के हल हो जाने के बाद शीत–आतप वर्षा आदि विभिन्न ऋतुजन्य विषमताओं से बचने तथा तन को ढ़कने के लिए साधन भी उसने ढूँढ़ निकाले। जैसा कि पहले कहा गया है। प्राकृतिक और पशुधन ही आदिम मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सहायक हुए। पेड़ों की पत्तियों तथा छालों को जोड़कर तथा मृतक पशुओं की खाल से शरीर को ढ़ाँककर उसने अपनी रक्षा की। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वभावतः अति क्रूर, बर्बर और निष्ठुर प्रवृत्ति के कारण आदिम मनुष्य में धार्मिक आस्था का जागरण नहीं हो पाया था। उपलब्ध सामग्री से स्पष्ट है कि पूर्व–पाषाणयुगीन मनुष्य देवी–देवताओं की पूजा तथा आराधना में विश्वास नहीं करते थे। इस वास्तविकता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि उसे प्राकृतिक तत्वों तथा प्रकोपों का भय था। फिर भी उसके भीतर एक ऐसी अदृश्य शक्ति का अस्तित्व प्रसुप्त रूप में विद्यमान था, जो कि इन भारतीय संस्कृति और कला सब कारणों के मूल में निहित थी।

उत्तर–पाषाणकालीन मनुष्य में विकसित चर्मिक सब के आधार पर यह अनुमान लगाना सर्वथा कल्पित नहीं हो सकता है कि पूर्व–पाषाणयुगीन मनुष्य के अन्तस्थ में विश्वास अड़िग रूप में विद्यमान थे। आदि मानव से सम्बन्धित अन्य क्रिया–कलापों की परिचायक जो सामी उपलब्ध नहीं होती, उसकी अनिवार्य आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की सम्भावनाओं से इंकार नहीं किया जा सकता है। उसके सम्बन्ध में यह अनुमान लगाना सहज प्रतीत होता है कि उसकी आत्मरक्षा की प्रवृत्ति ने उसमें संगठन की भावना जागृत की। भयावह वन्य पशुओं का सामना करने के लिए उसे अन्य मनुष्यों की सहायता की अपेक्षा हुई होगी। उसने धीरे–धीरे अपने अनुभवों से यह भी जान लिया होगा कि कौन–सी ऋतु तथा समय आखेट (शिकार) के लिए उपयुक्त है। आखेटों तथा आक्रमणों के समय घायल या क्षत–विक्षत हो जाने पर उपचार के लिए उसने वन्य औषधियों का उपयोग किया होगा। ऋतुओं की अनुकूलता–प्रतिकूलता और वन्य औषधियों का ज्ञान हो जाने के साथ–साथ उसे फल–फूलों तथा विभिन्न वनस्पतियों की उपयोगिता की जानकारी भी अवश्य हुई होगी। इस प्रकार अपनी आदिम अवस्था में ही मनुष्य ने ज्योतिर्विज्ञान, औषधि विज्ञान और वनस्पति विज्ञान को भविष्योन्नति का आधार खोज लिया था। प्रागैतिहासिक युग की उपलब्ध विपुल एवं विभिन्न सामग्री के अध्ययन–अनुशीलन के आधार पर विद्वानों ने ऐसे प्रमाण खोज निकाले, जिनसे यह सिद्ध किया कि पूर्व और उत्तर पाषाण युग के बीच एक लम्बा अन्तराल है। कुछ विद्वानों ने इस मध्यान्तर को संक्रान्तिकाल भी कहा है। संक्रान्ति के इस अन्तराल को विद्वानों ने माइक्रोलिथिक युग और प्रोटो ओलिधिक युग के अन्तर्गत रखा है। भारत में मध्य–पाषाणयुगीन उपकरण उत्तर में जमालगढ़ी (पेशावर जिला अन्तर्गत) और पश्चिम में कराची से लेकर पूर्व में सरायकला (बिहार) के विस्तृत भू–भाग से प्राप्त हुए है। यद्यपि इस युग

के उपकरणों की परम्परा सुदूर भविष्य अर्थात् बौद्धयुग तक प्रवर्तित होती रही, किन्तु उसका आरम्भ पूर्व–पाषाण–काल के तत्काल बाद में हुआ। इसलिए उसकी समय–सीमाओं के निर्धारण में विद्वानों का वैमत्य रहा है। भारत में ब्रह्मगिरि (मैसूर) के रोप्पा गाँव के निकट, पंजाब में उचाली और साबरमती घाटी की खुदाइयों से प्राप्त पशुओं की हड्डियों और मानव अस्थि–पंजरों को मध्य–पाषाण युग के अन्तर्गत रखा गया है। इसी प्रकार सिन्धु (सक्कर, रोहरी) के उत्खननों से भी मध्य–पाषाणयुगीन मानव के अस्तित्व का पता चला है।

भारत में उपलब्ध इन विभिन्न उपकरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस युग में मनुष्य नदी–घाटियों तथा पर्वत–कन्दराओं से निकलकर छोटी–छोटी पहाड़ियों में फैल गया था। इस अवस्था में चलकर उसे विभिन्न पशुओं की नस्लों का ज्ञान हो गया था। अनेक खुदाइयों में मानव अस्थि–पंजरों के निकट कुत्ते के अस्थि–पंजर भी प्राप्त हुए है। वह कृषि कर्म से अनभिज्ञ था। अभी भी उसकी आजीविका का मुख्य साधन आखेट ही था। इस युग में उसने पहले की अपेक्षा अपने शस्त्रों के निर्माण तथा प्रयोग में अवश्य ही कुछ प्रगति कर ली थी। उत्खननों से प्राप्त मानव अस्थि–पंजरों के अध्ययन से यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि पूर्व–पाषाणयुगीन मनुष्य की अपेक्षा मध्य–पाषाणयुगीन मनुष्य ने शवों को दफ़नाने की प्रथा को वरण कर लिया था। इस शव दाह की प्रक्रिया से यह अनुमान होता है कि लोकोत्तर जीवन के प्रति उसका विश्वास होने लगा था।

भारत में विभिन्न प्रागैतिहासिक युगीन स्थानों की खुदाइयों से जो बहुविध विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है उसके अध्ययन परीक्षण से विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उसमें एक लम्बा व्यवधान है। इसी व्यवधान के आधार पर उसकी पूर्वापरता निश्चित की गयी है। फिर भी उसको सुनिश्चित समय–सीमाओं के भीतर रखना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। समय–समय पर की गयी खुदाइयों में कश्मीर, सिंधु प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार, असम, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर और बेलारी जिले से उपलब्ध सामग्री द्वारा यह प्रमाणित किया गया है कि उत्तर–पाषाण काल की सभ्यता भारत के ओर–छोर तक व्याप्त थी। इस युग की उल्लेखनीय उपलब्धियों में पालिश किये गये विशेष प्रकार के सुधरे हुए हथियार और औजार हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्मगिरि (मैसूर) के उत्खननों में कुछ मृणपात्र भी उपलब्ध हुए है। मध्य–पाषाण काल की अपेक्षा उत्तर–पाषाण काल के शवों को दफ़नाने की प्रक्रिया में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया था, जिससे कि इस युग के मनुष्यों की धर्म–कर्म की अभिरुचि का परिचय मिलता है। इस युग की समय–सीमाओं को विद्वानों ने 1000–300 ई.पू. में निर्धारित किया है।

पूर्ववर्ती दोनों युगों की अपेक्षा उत्तर–पाषाणयुगीन सभ्यता अनेक दृष्टियों से उन्नतावस्था में पहुँच चुकी थी। इस युग की विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि लोगों में कृषि–कार्य के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया था। इससे पूर्व मनुष्य की आजीविका के साधन कन्द–मूल, फल और पशु थे। किन्तु इस युग के मनुष्यों द्वारा कृषि–कार्य के लिए किन–किन साधनों का उपयोग होता था– इसका कोई सुनिश्चित प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है, फिर भी इतना निश्चित है कि अनाज काटने के लिए हँसिया का आविष्कार हो चुका था। उसकी घिसाई के लिए पाषाण–खण्डों का उपयोग किया जाता था। कृषि के प्रति इस युग के जनानुराग ने उसे पशुपालन के प्रति भी प्रेरित किया। इससे पूर्व मनुष्य के लिए पशुओं की

उपयोगिता केवल आहार मात्र के लिए किया। मध्य पाषाणयुगीन मनुष्य ने कुत्ते को अपने सहचर के रूप में अपना लिया था इसलिए कि आखेट के समय वह उसके लिए उपयोगी सिद्ध हुआ था किन्तु अन्य पशुओं के उपयोग के प्रति उत्तर–पाषाणकालीन मनुष्य ने ही सर्वप्रथम पशुओं का उपयोग किया। पशुओं से वह भारवहन का काम लेता था। कुछ पशुओं से उसे दुग्ध भी मिलता था। इस युग में मनुष्य की जिन पशुओं के प्रति अधिक निकटता हो चुकी थी, उनमें गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी, कुत्ता और घोड़ा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पशुओं द्वारा वह विभिन्न कार्य–संपादन करने लगा था। इससे पूर्व मनुष्य के उपयोग की अधिकतर सामग्री पाषाण–निर्मित थी, किन्तु इस युग में उसने मिट्टी के बर्तनों का निर्माण तथा उपयोग करना आरम्भ कर दिया था। यह मृणमय सामग्री दैनिक जीवन के उपयोग में आने वाले छोटे–छोटे पात्रों के रूप में और अनाज आदि रखने के लिए विशाल भाण्डों के रूप में निर्मित होने लगी थी। इस मृणमय सामग्री के परीक्षण से ज्ञात होता है कि उसका निर्माण केवल हाथों द्वारा किया गया था। मृणपात्र बनाने में चाक तथा अन्य किसी औजार का प्रयोग नहीं किया गया था। सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास ने उत्तर–पाषाणयुगीन मनुष्य में नये निर्माण कार्यों की प्रेरणा एवं जिज्ञासा उत्पन्न की। पहले वह अपने शरीर की रक्षा के लिए वृक्ष–छालों, पत्तों तथा चर्म को उपयोग में लाता था किन्तु अब वह बुने हुए वस्त्रों की उपयोगिता समझने लगा था। इस भावना से उसने कताई–बुनाई की कला को जन्म दिया। उसने पेड़–पौधों के रेशों और सम्भवतः कपास की रुई से वस्त्रों का निर्माण प्रारम्भ किया। वनस्पति तथा मृत्तिका पाषाण के चूर्ण से बने रंगों से कपड़ों को रंगकर उन्हें चित्ताकर्षक बनाया। प्रगतिशील तथा समुन्नत जीवन की ओर अग्रसर होते हुए उसने अपने आवास की परिस्थितियों में भी सुधार किया। अब तक वह नदियों के कगारों, पर्वत–कन्दराओं में ही निवास करता था। अब उसने सुविधाजनक खुले स्थानों पर घास–फूस, पेड़–पौधों और मिट्टी–पत्थर की सहायता से अपने रहने के लिए छोटी–छोटी झोपड़ियों का निर्माण किया। अपने शस्त्रों की दिशा में भी उसने परिवर्तन किया। यद्यपि अभी उसके शस्त्रों के साधन लकड़ी, हड्डी तथा पाषाण के पुराने ही उपकरण थे, किन्तु उनकी रूप–रेखा में अब पर्याप्त सुधार हो चुका था। वे अधिक सुव्यवस्थित, सुडोल और उपयोगी होने के साथ–साथ सुसज्जित सुविधाजनक और देखने में सुन्दर थे।

उत्तर–पाषाणयुगीन मनुष्य की उन्नतिशील बुद्धिमत्ता की विशेष उल्लेखनीय उपलब्धि अग्नि का आविष्कार था। अग्नि के आविष्कार ने उत्तर–पाषाणयुगीन मनुष्य जीवन की चहुँमुखी उन्नति के द्वार खोल दिये। आग के प्राप्त हो जाने के बाद उसने अपनी सुरक्षा तथा सुविधा के अनेक उपाय ढूँढ़ निकाले। उसके द्वारा एक ओर तो उसने शीतकाल के कष्टों से मुक्ति पायी और दूसरी ओर उसने अग्नि द्वारा वन्य पशुओं से अपने को बचाया। प्रारम्भ में वह कच्चे माँस से ही उदर–पूर्ति करता था किन्तु अब माँस पकाने, भोजन बनाने तथा मृत्तिका भाण्डों को तपाने के लिए उसने आग का उपयोग किया। इस प्रकार मनुष्य ने परिस्थितियों और वातावरण को अपने अनुकूल बनाते हुए निरन्तर नये आविष्कारों तथा जीवनोपयोगी सुविधाओं का निर्माण कर सभ्यता और संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास किया। इससे पूर्व वह सहयोग तथा संगठन की भावना से अपरिचित था। अकेले ही वह परिस्थितियों तथा बाधाओं से निपटता रहा। मध्य–पाषाण युग में उसने सहयोग तथा संगठन की उपयोगिता को अनुभव किया और

उत्तर–पाषाण युग में वह एक सुदृढ़ संगठन में आबद्ध हो चुका था। इस जन–सहयोग ने सामाजिक जीवन की नींव डाली। इसी से जन–जीवन में पारस्परिक कार्य–विभाजन की नयी आर्थिक व्यवस्था का जन्म हुआ, जिसके फलस्वरूप परम्परागत उद्योग–व्यवसायों का वर्गीकरण हुआ। जिनकी जिस व्यवसाय में अधिक अभिरुचि तथा दक्षता थी, उन्हें उसका स्वामित्व प्रदान किया गया। समाज में निरन्तर बढ़ती हुई इस औद्योगिक एवं व्यावसायिक प्रगति ने नये आर्थिक संगठन का निर्माण किया। उससे पारस्परिक प्रतियोगिता की भावना जगी और उसने मनुष्य को अधिकाधिक श्रम अर्जित करने के लिए प्रेरित किया। श्रम की इस सामाजीकरण पद्धति ने परिवार–संस्था को जन्म दिया। समाज–संस्था के संचालक को नेता और परिवार–संस्था के संचालक को पिता की मान्यता प्राप्त हुई। इस प्रकार उत्तर–पाषाण युग की व्यवस्थित जीवन–पद्धति ने समाज में अनुशासन, प्रेम, सहानुभूति तथा पारस्परिक सहयोग को बढ़ावा देकर एक विकासशील सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया। इसके साथ ही भौतिक जीवन में स्वार्थ–स्वहित की भावना को बढ़ाया। अन्न तथा पशुओं की उपयोगिता ने मनुष्य में संचय की प्रवृत्ति को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप सम्पत्ति की लिप्सा का उदय हुआ। उससे समाज में धनिक तथा निर्धन का विभेद उत्पन्न हुआ। इस आर्थिक असमानता ने वर्ग–संघर्ष की नींव डाली। यद्यपि यह वर्ग–संघर्ष अधिकारों की अधिकाधिक स्वायत्तता को उभारता गया, फिर भी उनसे उसकी प्रगति में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं हुआ।

इस प्रकार आदिम मनुष्य के पाषाण युग तक के जीवन–क्रम पर विचार करते हुए पहली बात जो सामने आती है वह यह है कि जोखिम और साहस के बल पर अपनी जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए वह निरन्तर आगे बढ़कर नये–नये अनुभवों को समेटता गया। अपनी आदिम अवस्था में तो यह केवल प्रकृति पर ही अवलम्बित था। प्राकृत धर्मों से अभ्यस्त होकर उसने धीरे–धीरे उनकी अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का रहस्य हृदयंगम किया। ऋतुओं, जलवायु, आकाश–मण्डल और वनस्पतियों के निरन्तर साहचर्य के कारण आदिम मनुष्य ने उनके प्रभावों तथा प्रतिक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त किया। सभ्यता के इस नवोन्मेष ने मनुष्य को खगोलविद्या, जलवायु विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान और आयुर्वेद विज्ञान की खोज के लिए प्रेरित एवं उत्साहित किया। कृषि, पशुपालन तथा अन्य प्राकृत सम्पदा के उपयोग से कृषिशास्त्र, पशुविद्या और वनस्पतिशास्त्र के आधुनिक विकास–क्रम की भूमिका की आधारशिला रखी। प्राकृतिक धर्मों पर अवलम्बित होने के कारण आदिम मनुष्य जन्मतः ही एक अदृश्य भय का दास बना हुआ था। इस भय ने उसमें अनेक प्रकार के अंधविश्वासों को जन्म दिया। उनके निवारण के लिए उसने एक ऐसी शक्ति पर विश्वास किया, जो उसकी आधि–व्याधियों तथा प्राकृतिक प्रकोपों का उपशमन करने में सक्षम थी। उसके शव दाह के संस्कार ने कदाचित् उसमें मरणोपरान्त लोकोत्तर जीवन की जिज्ञासा को जगाया। शवों की सुरक्षा के लिए निर्मित समाधियों, मृत्तिका पात्रों पर रखी हुई भरम और शवों को दफनाने के दिशाज्ञान से एक ओर तो यह विदित होता है कि आदिम मनुष्य ने मृत व्यक्तियों की स्मृति में स्मारक निर्माण किये। दूसरे इसके साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उसके अन्तःकरण में चर्म का भी स्फुरण हो गया था। मृत व्यक्ति के प्रति उसके श्रद्धाभाव का एकमात्र कारण यही हो सकता है कि उसे लोकोत्तर जीवन का आभास हो चुका था।

विक्रमादित्य वैदिक घड़ी

- विक्रमादित्य वैदिक घड़ी भारतीय काल गणना पर आधारित विश्व की पहली घड़ी है।
- यह घड़ी सूर्योदय से परिचालित है। अत: जिस शहर में जो सूर्योदय का समय होगा उस शहर या स्थान की काल गणना उसी अनुसार होगी।
- इस घड़ी में वैदिक समय, भारतीय पंचांग, विक्रम सम्वत् मास, ग्रह स्थिति, योग, भद्रा स्थिति, चंद्र स्थिति, पर्व, शुभाशुभ मुहूर्त, घटी, नक्षत्र, जयंती, व्रत, त्यौहार, चौघड़िया, सूर्य ग्रहण, चन्द्रग्रहण, आकाशस्थ, ग्रह, नक्षत्र, ग्रहों का परिभ्रमण आदि समाहित है।

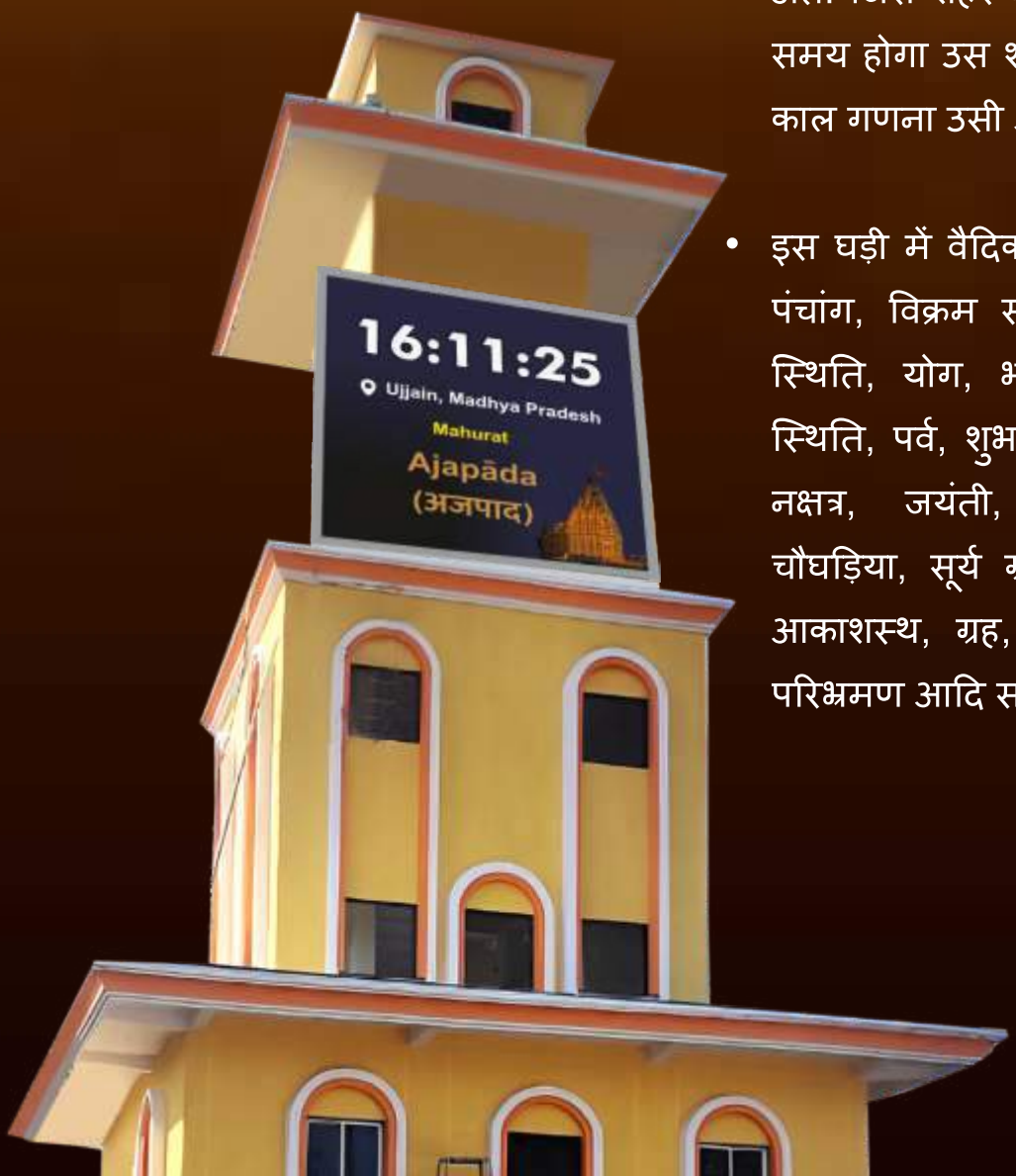

वीर भारत न्यास

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
स्वराज संस्थान संचालनालय
संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन